अवधूत—गीता

श्री पण्डित पुत्तूलाल शर्मा कृत—

भाषाटीकया समलंकृत ।

[illegible] की भूमिका सहित ।

प्रकाशक—

हरिप्रसाद भागीरथजी, बम्बई

[illegible] ऐजेन्ट——

[illegible] मुकन्ददास, अग्रवाल

[illegible] कंकड़-मथुरा ।

[illegible] १९२६

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने
कालिन्दीकूलकेलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने
नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

शरणागति

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च
प्रहिणोति तस्मै ।

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै
शरणमहं प्रपद्ये

एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमङ्कुशधारिणम्
अभयं वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम्
रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम्
रक्तगन्धानुलिप्ताङ्गं रक्तपुष्पैः सुपूजितम्

ॐ

अवधूतगीता

भाषाटीकासहिता ।

प्रणम्य भारतीं भक्त्या श्रीपुत्तूलाल शर्म्मणा ।
व्याख्याऽवधूत-गीताया भाषायामन्त्र लिख्यते ॥१॥

अवधूत उवाच ।

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना ।
महद्भयपरित्राणाद्विप्राणामुपजायते ॥ १ ॥

अर्थ—ईश्वरके अनुग्रहसे ही पुरुषोंका महाभयसे रक्षा करने के हेतु ब्राह्मणोंके 'अन्तःकरणमें' अद्वैत वासना उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

येनेदं पूरितं सर्वमात्मनैवात्मनात्मनि ।
निराकारं कथं वन्दे ह्यभिन्नं शिवमव्ययम् ॥२॥

अर्थ—जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् आत्मामें आत्माके समान परिपूर्ण है, उस निराकार, अभिन्न (व्यापक)

शिव (कल्याणस्वरूप), अव्यय (अविनाशी) की बन्दना (स्तुति) मैं किस प्रकार करूँ ? ॥ २ ॥

पञ्चभूतात्मकं विश्वं मरीचिजलसन्निभम् ।
कस्याप्यहो नमस्कुर्यामहमेको निरञ्जनः ॥३॥

अर्थ—यह पंचभूतात्मक विश्व अर्थात् पांच तत्त्वसे उत्पन्न हुआ जगत् मरीचि जल (लहरों) के समान हैं, मैं एक निरञ्जन हूं तो फिर किसको नमस्कार करूं ? ॥ ३ ॥

आत्मैव केवलं सर्वं भेदाभेदो न विद्यते ।
अस्तिनास्ति कथं ब्रूयां विस्मयः प्रतिभाति मे ॥४

अर्थ—यह सब केवल आत्मा है अर्थात् सर्व जगत् आत्मामय है, भेद अभेद इसमें नहीं है तो फिर अस्ति नास्ति कैसे कहा जाय ? यह मुझको आश्चर्य मालूम होता है ॥ ४ ॥

वेदान्तसारसर्वस्वं ज्ञानविज्ञानमेव च ।
अहमात्मा निराकारः सर्वव्यापी स्वभावतः॥५॥

अर्थ—वेदान्त-सारका सर्वस्व और ज्ञान विज्ञान यही है कि मैं स्वभावसे निराकार सर्वव्यापी आत्मा हूं ॥ ५ ॥

योवै सर्वात्मको देवो निष्कलो गगनोपमः ।
स्वभावनिर्मलः शुद्धः स एवाहं न संशयः ॥६॥

अर्थ–जो सर्वात्मक, देव, निष्कल और आकाशोपम है और स्वभावसे निर्मल और शुद्धस्वरूप है सोई मैं हुं, इसमें संशय नहीं ॥ ६ ॥

अहमेवाव्ययोऽनन्तः शुद्धो विज्ञानविग्रहः ।
सुखं दुःखं न जानामि कथं कस्यापि वर्तते ॥७॥

अर्थ–मैंही अविनाशी, अनन्त, शुद्ध और विज्ञानस्वरूप हूं, मैं सुख दुःख नहीं जानता हूं कि कैसे किसको होता है ? ॥ ७ ॥

न मानसं कर्म शुभाशुभं मे । न कायिकं कर्म शुभाशुभं मे ॥ न वाचिकं कर्म शभाशुभं मे ।
ज्ञानामृतं शुद्धमतीन्द्रियोऽहम् ॥८॥

अर्थ–मेरे मानसिक शुभाशुभ कर्म कोई नहीं हैं, न शारीरिक शुभाशुभ कर्म मेरे हैं, और वाचिक शुभाशुभ कर्म मेरे नहीं हैं, मैं ज्ञान, अमृत, शुद्ध और अतीन्द्रिय हूं ॥ ८ ॥

मनो वै गगनाकारं मनो वै सर्वतोमुखम् ।
मनोऽतीत मनः सर्वं न मनः परमार्थतः ॥९॥

अर्थ—मनही गगनाकार, मनही प्रधान, मनही अतीत, मनही व्यापक, परन्तु वास्तव में मन हैही नहीं ॥६॥

अहमेकमिदं सर्वं व्योमातीतं निरंतरम् ।
पश्यामि कथमात्मानं प्रत्यक्षं वा तिरोहितम् ॥१०

अर्थ—मैं केवल आकाशवत् निरन्तर व्यापक हूं तो फिर गुप्त अथवा प्रकट आत्माको कैसे देखूं ? ॥ १० ॥

त्वमेवमेकं हि कथं न बुध्यसे । समं हि सर्वेषु विमृष्टमव्ययम् ॥ सदोदितोऽसि त्वमखण्डितः प्रभो । दिवा च नक्तं च कथं हि मन्यसे ॥११

अर्थ—तुमही एक हो तो फिर सम्पूर्ण भूतोंमें अविनाशित्व और समता क्यों नहीं दिखाई देती ? हे प्रभो ! तुम सर्वदा प्रकाशित और अखंडित हो तो दिन और रात्रि क्यों मानते हो ? ॥ ११ ॥

आत्मानं सततं विद्धि सर्वत्रैकं निरंतरम् ।
अहं ध्याता परं ध्येयमखण्डं खण्ड्यते कथम् ॥१२

अर्थ—आत्माको सर्वत्र एक और निरन्तर 'व्यापक' जानो तो फिर मैं ध्याता और परम पुरुष ध्येय है यह मानकर अखण्ड ब्रह्मका क्यों खण्डन करते हो ? ॥१२॥

न जातो न मृतोऽसि त्वं न ते देहः कदाचन ।
सर्वं ब्रह्मेति विख्यातं ब्रवीति बहुधा श्रुतिः ॥१३

अर्थ–तुम कभी न उत्पन्न हुए हो न मृतक हुए हो, तुम्हारा देहभी नहीं, सब कुछ ब्रह्मही है यह श्रुति-वाक्य प्रायः प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥

स बाह्याभ्यन्तरोऽसि त्वं शिवः सर्वत्र सर्वदा ।
इतस्ततः कथं भ्रांतः प्रधावसि पिशाचवत् ।१४।

अर्थ–तुम बाहर भीतर सर्वत्र एकरस सर्वदा कल्याण-स्वरूप हो, पिशाच के समान इधर उधर भूलेसे क्यों दौड़ते फिरते हो ? ॥ १४ ॥

संयोगश्च वियोगश्च वर्त्तते न च ते न मे ।
न त्वं नाहं जगन्नेदं सर्वमात्मैव केवलम् ॥१५॥

अर्थ–हमारे और तुम्हारेमें संयोग और वियोग नहीं है, न तुम हो, न मैं हूं, न यह जगत् है, जो कुछ है, सब केवल आत्माही है ॥ १५ ॥

शब्दादिपञ्चकस्यास्य नैवासि त्वं न ते पुनः ।
त्वमेव परमं तत्वमतः किं परितप्यसे ॥१६॥

अर्थ–शब्द आदि विषयपंचक तुम नहीं हो और न शब्द आदि विषय ही हैं, तुमही परम तत्त्व हो तो फिर तुम क्यों दुःखी होते हो ? ॥ १६ ॥

जन्म मृत्युर्न ते चित्त बन्धमोक्षौ शुभाशुभौ।
कथं रोदिषि रे वत्स नाम रूपं न ते न मे ॥१७॥

अर्थ—रे चित्त ! तेरा जन्म मरण कुछ नहीं है, न बन्ध मोक्ष है और न शुभ अशुभ है तथा नाम रूप भी नहीं। हे वत्स ! तो फिर क्यों रोता है ? ॥ १७ ॥

अहो चित्त कथं भ्रान्तः प्रधावसि पिशाचवत्।
अभिन्नं पश्य चात्मानं रागात्यागात्सुखी भव १८

अर्थ--अहो चित्त ! पिशाचके सदृश भूले हुए क्यों भटकते हो ? आत्माको अभिन्न देखो और विषयोंको त्यागकर सुखी हो जाओ ॥ १८ ॥

त्वमेव तत्त्वं हि विकारवर्जितं। निष्कम्पमेकं हि विमोक्षविग्रहम् ॥न ते च रागो ह्यथवा विरागः। कथं हि संतप्यसि कामकामतः ॥१९॥

अर्थ--तुमही विकाररहित तत्त्व हो और निष्काम मोक्षस्वरूप हो, तुममें राग अथवा विराग कुछ नहीं है तो फिर अति कामनाओंसे क्यों दुःखी होते हो ? ॥१९॥

वदंति श्रुतयः सर्वा निर्गुणं शुद्धमव्ययम्।
अशरीरं समं तत्त्वं तन्मां विद्धि न संशयः॥२० ॥

अर्थ—जिसको सम्पूर्ण श्रुतियां निर्गुण, शुद्धि, अविनाशी, शरीर-रहित (निराकार) और समतत्त्व कहती हैं सोई निस्सन्देह मुझको समझो ॥ २० ॥

साकारमनृतं विद्धि निराकारं निरन्तरम् ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसंभवः ॥ २१ ॥

अर्थ—साकारको झूंठा और निराकार को सच्चा जानो, इस तत्त्वके उपदेशसे पुनर्जन्म नहीं होताहै ॥ २१ ॥

एकमेव समं तत्त्वं वदन्ति हि विपश्चितः ।
रागत्यागात्पुनश्चित्तमेकानेकं न विद्यते ॥ २२ ॥

अर्थ—पंडितजन एक ही समतत्त्व कहते हैं. विषयों के त्यागसे एक अनेककी सम्भावना नहीं रहती है ॥ २१ ॥

अनात्मरूपं च कथं समाधिः। आत्मस्वरूपं च कथं समाधिः ॥ अस्तीति नास्तीति कथं समाधिः ।
मोक्षस्वरूपं यदि सर्वमेकम् ॥ २३ ॥

अर्थ—यदि मोक्षस्वरूप केवल एकही है तो आत्मरूप और अनात्मरूपकी तथा अस्ति और नास्तिकी कैसे समाधि हो सकती है ? ॥ २३ ॥

विशुद्धोऽसि समं तत्त्वं विदेहस्त्वमजोऽव्ययः।
जानामीह न जानामीत्यात्मानं मन्यसे कथम् २४

अर्थ–तुम विशुद्ध समतत्व और निराकार अजन्मा व अविनाशी हो तो फिर मैं आत्माको जानता हूं वा नहीं जानता हूं ऐसा क्यों मानते हो ? ॥ २४ ॥

तत्वमस्यादिवाक्येन स्वात्मा हि प्रतिपादितः।
नेति नेति श्रुतिर्ब्रूयादनृतं पाञ्चभौतिकम् २५

अर्थ--तत्वमसि आदि वाक्योंसे आत्माही सिद्ध है नेति नेति ऐसा श्रुति कहती है पाञ्चभौतिक व्यापार सब झूंठा है ॥ २५ ॥

आत्मन्येवात्मना सर्वं त्वया पूर्णं निरन्तरम्।
ध्याता ध्यानं न ते चित्त निर्लज्जं ध्यायतेकथम् २६

अर्थ-आत्मामें आत्मा करके ही निरन्तर तुम करके सबभरा हुआहै और हे चित्त ! ध्याता ध्यान कुछ नहीं है तो फिर तुम निर्लज्ज होकर किसका ध्यान करतेहो॥२६ ।

शिवं न जानामि कथं वदामि । शिवं न जानामि कथं भजामि ॥ अहं शिवश्चेत्परमार्थतत्त्वं। समस्वरूपं गगनोपमं च ॥ २७ ॥

अर्थ--शिवको मैं नहीं जानता हूं यह कैसे कहूं ? 'अन्य' शिवको मैं नहीं जानता हूं तो किस प्रकार भजन करूं ? परमार्थतत्त्व, समस्तरूप और गगनोपम शिव मैंही हूं ॥ २७ ॥

नाहं तत्वं समं तत्वं कल्पनाहेतुवर्जितम् ।
ग्राह्यग्राहकनिर्मुक्तं स्वसंवेद्यं कथं भवेत् ॥२८॥

अर्थ- मैं कोई तत्त्व नहीं हूं, मैं कल्पना-हेतु-वर्जित, समान तत्त्व, ग्राह्यग्राहकनिर्मुक्त, स्वसंवेद्य कैसे होऊं? २८

अनन्तरूपं न हि वस्तु किंचित्तत्वस्वरूपं न हि वस्तु किंचित् । आत्मैकरूपं परमार्थतत्वं न हिंसको वापि न चाप्यहिंसा ॥ २९ ॥

अर्थ -मैं अनन्तरूप कोई वस्तु नहीं हूं और तत्त्व-स्वरूप कोई वस्तु नहीं हूं, मैं केवल आत्मारूप हूं, परमार्थ तत्व हूं, हिंसक का अथवा अहिंसा का भाव नहीं रखता हूं ॥ २९ ॥

विशुद्धोऽसि समं तत्त्वं विदेहमजमव्ययम् ।
विभ्रमंकथमात्मार्थे विभ्रान्तोऽहं कथं पुनः ३०

अर्थ--तुम विशुद्ध, समतत्त्व, विदेह, अजन्मा और अविनाशी हो तो फिर मैं विभ्रांत हूं, आत्मा के अर्थ ऐसा क्यों विभ्रमयुक्त होते हो ? ॥३०॥

घटे भिन्ने घटाकाशं सुलीनं भेदवर्जितम् ।
शिवेन मनसा शुद्धो न भेदः प्रतिभाति मे ॥३१॥

अर्थ--घट टूट जाने पर घटाकाश महाकाश में मिल जाता है तब भेद नहीं रहता, इसी प्रकार मनके शुद्ध होने पर फिर शिव के साथ कोई भेद नहीं जान पड़ता है ॥ ३१ ॥

न घटो न घटाकाशो न जीवो जीवविग्रहः ।
केवलं ब्रह्म संविद्धि वेद्यावेदकवर्जितम् ॥३२॥

अर्थ--न घड़ा है, घड़ाका आकाश, जीव और जीवका विग्रह भी नहीं, मुझे वेद्य-वेदकरहित ब्रह्म जानो ॥३२॥

सर्वत्र सर्वदा सर्वमात्मानं सततं ध्रुवम् ।
सर्वं शून्यमशून्यं च तन्मां विद्धि न संशयः ॥३३

अर्थ--सर्वत्र सर्वदा संपूर्ण, निरंतर निश्चयात्मक, सर्वशून्य और अशून्य जो ब्रह्म है सोई निस्सन्देह मुझको जानो ३३

वेदा न लोका न सुरा न यज्ञा । वर्णाश्रमौ नैव कुलं न जातिः ॥ न धूममार्गो न च दीप्तिमार्गो । ब्रह्मैकरूपं परमार्थतत्त्वम् ॥३४॥

अर्थ-न वेद, न लोक, न सुर, न यज्ञ, न वर्णाश्रम, न कुल, न जाति न धूममार्ग और न प्रकाशित मार्ग है, अर्थात् ये

कोई नहीं, केवल परमार्थ तत्त्व एक ब्रह्मस्वरूप है ॥३४॥

व्याप्यव्यापकनिर्मुक्तं त्वमेकः सकलं यदि ।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च आत्मानं मन्यसे कथम् ॥३५॥

अर्थ—यदि व्याप्य व्यापक निर्मुक्त तुमही हो तो फिर आत्मा को प्रत्यक्ष और परोक्ष कैसे मानते हो ? ॥३५॥

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्त्वं न विदन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥३६॥

अर्थ—संसार में कोई अद्वैतवादी, कोई द्वैतवादी, कोई द्वैताद्वैतवादी होते हैं, वे समतत्त्व को नहीं जानते ॥३६॥

श्वेतादिवर्णरहितं शब्दादिगुणवर्जितम् ।
कथयन्ति कथं तत्त्वंमनो वाचामगोचरम् ॥३७॥

अर्थ—जो श्वेत आदि वर्णरहित, शब्द आदि गुणवर्जित मन और वाणीसे अगोचर हैं, उसे परम तत्त्व क्यों कहते हैं ॥ ३७ ॥

यदाऽनृतमिदं सर्वं देहादि गगनोपमम् ।
तदाहि ब्रह्म संवेत्ति न ते द्वैतपरंपरा ॥३८॥

अर्थ—जब देह आदि सब मिथ्या है तो आकाशोपम ब्रह्म को जानो, अर्थात् जो ऐसा जानता है उसके द्वैत परंपरा नहीं रहती है ॥ ३८ ॥

परेण सहजात्मापि ह्यभिन्नः प्रतिभाति मे।
व्योमाकारं तथैवैकं ध्याता ध्यानं कथं भवेत्॥ ३९

अर्थ--इस आत्मा के साथ व्योमाकार अकेला परमात्मा भिन्न मालूम होता है, ध्याता ध्यान कैसे संभव है॥३९॥

यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत्।
एतत्सर्वं न मे किंचिद्विशुद्धोऽहमजोऽव्ययः॥४०

अर्थ—जो करता हूं; जो खाता हूं, जो होम करता हूं, जो देता हूं, यह सब मेरा कुछ नहीं, मैं विशुद्ध, अज और अविनाशी हूं ॥४०॥

सर्वं जगद्विद्धि निराकृतीदं। सर्वं जगद्विद्धि विकारहीनम्॥सर्वं जगद्विद्धि विशुद्धदेहं। सर्वं जगद्विद्धि शिवैकरूपम् ॥४१॥

अर्थ—इस संपूर्ण जगत् को निराकार जानो, इस सब जगत्को विकारहीन मानो, तथा सब जगत्को विशुद्ध देह समझो, एवं इस सब जगत्को केवल शिवरूप जानो॥४१

तत्त्वं त्वं हि न संदेहः किं जानाम्यथवा पुनः।
असंवेद्यं स्वसंवेद्यमात्मानं मन्यसे कथम्॥४२॥

अर्थ—निस्सन्देह तुमही परमतत्त्व हो, इस प्रकार जान कर आत्माको असंवेद्य स्वसंवेद्य कैसे मानते हो?॥४२॥

मायाऽमाया कथं तातच्छायाऽच्छाया न विद्यते।
तत्त्वमेकमिदं सर्वं व्योमाकारं निरञ्जनम्॥४३॥

अर्थ—हे तात! माया अमाया और छाया अच्छाया कैसे भी नहीं जान पड़ती, केवल तत्त्व ही यह सब व्योमाकार निरञ्जन है ॥ ४३ ॥

आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन ।
स्वभावनिर्मलः शुद्ध इति मे निश्चिता मतिः॥४४

अर्थ--आदि, मध्य, अन्त से मैं रहित हूं और मैं किसी प्रकार बद्ध नहीं हूं स्वभाव से निर्मल और शुद्ध हूं, इस प्रकार मेरी निश्चित मति है ॥ ४४ ॥

महदादि जगत्सर्वं न किंचित्प्रतिभाति मे ।
ब्रह्मैव केवलं सर्वं कथं वर्णाश्रमास्थितिः ॥४५॥

अर्थ—महत्तत्त्व आदि जगत् मुझे कुछ नहीं मालूम होता है, केवल ब्रह्म ही सब कुछ है, तो वर्णाश्रमों की स्थिति कैसे हो सकती है? ॥४५॥

जानामि सर्वथा सर्वमहमेको निरन्तरम् ।
निरालम्बमशून्यं च शून्यं व्योमादिपञ्चकम् ४६

अर्थ-मैं सर्वथा सबको एक, निरंजन, निरालम्ब और अशून्य जानता हूं और व्योम (आकाश) आदि पंच-तत्त्व शून्य हैं ॥४६॥

न षण्ढो न पुमान्न स्त्री न बोधो नैव कल्पना ।
सानंदं वा निरानंदमात्मानं मन्यसे कथम् ४७

अर्थ—आत्मा नपुंसक नहीं है, न पुरुष है, न स्त्री है, बोध और कल्पनारूप नहीं है, तो आत्मा को सानन्द और निरानन्द कैसे मानते हो ॥४७॥

षडङ्गयोगान्न तु नैवशुद्धं । मनोविनाशान्नतु नैव शुद्धम् ॥ गुरूपदेशान्न तु नैव शुद्धं । स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव बुद्धम् ॥४८॥

अर्थ--इस आत्मा को षडङ्ग योग शुद्ध नहीं कर सकता और मनका विनाश भी शुद्ध नहीं करता तथा गुरुपदेश से भी शुद्ध नहीं होता है, यह आत्मा स्वयं तत्त्वरूप है, ऐसा अपने ही आप बोधित होता है॥४८॥

नहि पञ्चात्मको देहो विदेहो वर्तते नहि ।
आत्मैव केवलं सर्वं तुरीयं च त्रयं कथम् ॥४९॥

अर्थ–पांचभौतिक देह नहीं और मुक्ति भी नहीं, केवल आत्माही है तो तुरीय और जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति ये तीनों अवस्था कैसे हो सकती हैं ।। ४९ ।।

न बद्धो नैव मुक्तोऽहं न चाहं ब्रह्मणः पृथक् ।
न कर्ता न च भोक्ताऽहं व्याप्यव्यापकवर्जितः ५०

अर्थ--मैं न बद्ध हूं, न मुक्त हूं, न ब्रह्मसे भिन्न हूं, मैं व्याप्यव्यापक वर्जितकर्ता भोक्ता भी नहीं हूं ।। ५० ।।

यथा जलं जले न्यस्तं सलिलं भेदवर्जितम् ।
प्रकृतिःपुरुषस्तद्वदभिन्नः प्रतिभाति मे ।।५१।।

अर्थ--जिस प्रकार जलमें गिरा हुआ जल भेदरहित होता है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष का अभेद है ऐसा मुझे भान होता है ।। ५१ ।।

यदि नाम न मुक्तोऽसि न बद्धोऽसि कदाचन ।
साकारं च निराकारमात्मानं मन्यसे कथम् ५२

अर्थ--यदि तुम न मुक्त हो और न कभी बद्ध हो, तो आत्माको साकार, निराकार कैसे मानते हो ? ।। ५२ ।।

जानामि ते परं रूपं प्रत्यक्षं गगनोपमम् ।
यथा परं हि रूपं यन्मरीचिजलसन्निभम्।।५३।।

अर्थ--मैं प्रत्यक्ष गगनोपम तुम्हारे परमरूपको जोपरात्पर है, उसको जानता हूं वह मरीचि जलके समान है।।५३।।

न गुरुर्नोपदेशश्च न चोपाधिर्न मे क्रिया।
विदेहं गगनं विद्धि विशुद्धोऽहं स्वभावतः॥५४॥

अर्थ--न गुरु है न उपदेश है, और न उपाधि है, न मेरी कुछ क्रिया है, विदेह (निराकार) गगनोपम मुझको जानो मैं स्वभावसे ही विशुद्ध हूं ॥ ५४ ॥

विशुद्धोऽस्यशरीरोऽसि न ते चित्तं परात्परम्।
अहं चात्मा परं तत्त्वमिति वक्तुं न लज्जसे ५५॥

अर्थ-तुम विशुद्ध हो, अशरीर (निराकार) हो तुम्हारा चित्त परात्पर नहीं है, मैं आत्मा हूं, परम तत्व हूं इस प्रकार कहते हुए लज्जित नहीं होते हो ? ॥ ५५ ॥

कथं रोदिषि रे चित्त ह्यात्मैवात्मात्मना भव।
पिबवत्स कलातीतमद्वैतं परमामृतम् ॥ ५६ ॥

अर्थ--रे चित्त ! क्यों रोता है ? तू आत्मा के समान आत्माद्वारा आत्मा है। हे वत्स ! कलातीत, अद्वैतरूप परम अमृत को पीयो। ॥ ५६ ॥

नैव बोधो न चाबोधो न बोधाबोध एव च।
यस्येदृशः सदा बोधः स बोधो नान्यथा भवेत्॥.

अर्थ—न बोध ही है और न अबोध ही है तथा बोधाबोध नहीं है, जिसको ऐसा बोध सदा रहता है वही बोध-स्वरूप है, वह बोध अन्यथा नहीं होता है ॥ ५७ ॥

ज्ञानं न तर्को न समाधियोगो न देशकालौ न गुरूपदेशः। स्वभावसंवित्तिरहं च तत्त्वमाकाशकल्पं सहजं ध्रुवं च ॥ ५८ ॥

अर्थ—न ज्ञान और तर्क है, न समाधि योग है, न देश और काल है, न गुरुका उपदेश है, मैं स्वभावसिद्ध ज्ञान-स्वरूप आकाशवत् सहज ध्रुव परमतत्व हूं ॥ ५८ ॥

न जातोऽहं मृतो वापि न मे कर्म शुभाशुभम्।
विशुद्धं निर्गुणं ब्रह्म बन्धो मुक्तिः कथं मम ॥ ५९ ॥

अर्थ—मैं न जन्मा और मरा हूं, न मेरे शुभाशुभ कर्म है, मैं विशुद्ध निर्गुण ब्रह्म हूं, मेरा बन्ध और मोक्ष कैसा? ॥ ५९ ॥

यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अन्तरं हि न पश्यामि स बाह्याभ्यन्तरः कथम् ६०

अर्थ—जो देव सर्वव्यापक, स्थिर और निरन्तर पूर्ण है

उसमें, अन्तर नहीं देखता हूं, तो उसके बाहर भीतर कैसे कहा जाय ॥ ६० ॥

स्फुरत्येव जगत्कृत्स्नमखण्डितनिरन्तरम् ।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥६१॥

अर्थ--यह जगत् सम्पूर्ण अखंडित, निरन्तर प्रकाशित है, अहो ! माया और महामोह की यहाँ द्वैतद्वैतकल्पना की जाती है ॥ ६१

साकारं च निराकारं नेति नेतीति सर्वदा ।
भेदाभेदविनिर्मुक्तो वर्तते केवलः शिवः ॥६२॥

अर्थ--साकार और निराकार तथा सर्वदा 'नेति नेति' कहा जाता है, सो भेद और अभेदरहित केवल शिव है ॥ ६२ ॥

न ते च माता च पिता च बन्धुर्न ते च पत्नी
न सुतश्च मित्रम् । न पक्षपातो न विपक्षपातः
कथं हि संतप्तिरियं हि चित्ते ॥ ६३ ॥

अर्थ—न तुम्हारे माता है, न पिता है, न बन्धु है, न तुम्हारे स्त्री है, व पुत्र और मित्र है, पक्षपात और अपक्षपात नहीं है तो फिर चित्त में दुःखी क्यों होते हो ? ॥ ६३ ॥

दिवा नक्तं न ते चित्त उदयास्तमयौ न हि ।
विदेहस्य शरीरत्वं कल्पयन्ति कथं बुधाः ॥६४॥

अर्थ–हे चित्त ! तुम्हारे ज्ञान से न दिन, न रात्रि और उदय अस्त भी नहीं, परन्तु बुधजन निराकार के शरीर की कल्पना क्यों करते हैं ? ॥ ६४ ॥

नाविभक्तं विभक्तं च न हि दुःखसुखादि च ।
न हि सर्वमसर्वं च विद्धि चात्मानमव्ययम् ॥६५॥

अर्थ–न अविभक्त और विभक्त है, न सुख और दुःख आदि है, न सर्व असर्व है, तुम आत्मा को अविनाशी जानो ॥ ६५ ॥

नाहं कर्ता न भोक्ता च न मे कर्म पुराऽधुना ।
न मे देहो विदेहो वा निर्ममेति ममेति च ॥६६॥

अर्थ–मैं न कर्ता हूं और न भोक्ता हूं, न मेरे पिछले और इस जन्म के कर्म हैं, न मेरे देह अथवा विदेह है, तो फिर निर्ममता और ममता कैसी ? ॥ ६६ ॥

न मे रागादिको दोषो दुःखं देहादिकं न मे ।
आत्मानं विद्धि मामेकं विशालं गगनोपमम् ॥६७

अर्थ—मुझ में रागादि दोष नहीं है और देहादि दुःख नहीं, एक विशाल गगनोपम आत्मा मुझे जानो ॥६७॥

सुखे मनः किं बहुजल्पितेन सखे मनः सर्वमिदं वितर्क्यम्। यत्सारभूतं कथितं मया ते त्वमेव तत्त्वं गगनोपमोऽसि ॥ ६८ ॥

अर्थ—हे मित्र मन! बहुत कहने से क्या? इन सब वितर्कों से क्या प्रयोजन? जो कुछ सारभूत है सो मैंने तुमसे कहा, तुमही गगनोपम परम तत्त्व हो ॥ ६८ ॥

येन केनापि भावेन यत्र कुत्र मृता अपि।
योगिनस्तत्र लीयन्ते घटाकाशमिवाम्बरे ॥६९॥

अर्थ—जिस किसी भी भावसे जहां कहीं मरण पाकर योगीजन ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं, जैसे घटाकाश महदाकाश में लीन हो जाता है ॥ ६९ ॥

तीर्थे चान्त्यजगेहे वा नष्टस्मृतिरपि त्यजन्।
समकाले तनुं मुक्तः कैवल्यव्यापको भवेत्॥७०॥

अर्थ—तीर्थमें अथवा चांडाल के घरमें नष्ट स्मृति भी शरीर छोड़ कैवल्यव्यापक मुक्त होता है ॥ ७० ॥

धर्मार्थकाममोक्षांश्च द्विपदादिचराचरम् ।
मन्यन्ते योगिनःसर्वं मरीचिजलसन्निभम्॥७१॥

अर्थ–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, मनुष्यादि चर अचर जीव इन सबको योगीजन मरीचि जलके समान मानते हैं ॥७१

अतीतानागतं कर्म वर्तमानं तथैव च ।
न करोमि न भुञ्जामि इति मे निश्चला मतिः॥७२

अर्थ–भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीनों कालोंमें मैं कोई कर्म नहीं करता हूं, न भोगता हूं यह मेरी निश्चल मति है ॥७२॥

शून्यागारे समरसपूतस्तिष्ठत्येकः सुखमवधूतः ।
चरति हि नग्नस्त्यक्त्वा गर्वं विन्दति केवल-
मात्मनि सर्वम् ॥ ७३ ॥

अर्थ–एकान्तमें सम रस, शुद्ध, अकेला अवधूत सुखसे रहता है और दिगम्बर हो, गर्वको त्यागकर बिचरता है तथा केवल आत्माको सर्वव्यापक जानता है ॥७३॥

त्रितयतुरीयं नहि नहि यत्र विन्दति केवलमा-
त्मनि तत्र । धर्माधर्मौ नहि नहि यत्र बद्धो
मुक्तः कथमिह तत्र ॥ ७४ ॥

अर्थ—जहां त्रितय (जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति) और तुरीय अवस्था नहीं वहाँ केवल आत्माको जानो और जहां धर्म और अधर्म नहीं वहां बन्ध और मोक्ष कैसे संभव है?।७४

विन्दति विन्दति नहि नहि मन्त्रं छन्दोलक्षणं नहि नहि तन्त्रम् । समरसमग्नो भावितपूतः प्रलपितमेतत्परमवधूतः ॥ ७५ ॥

अर्थ—जिसको छन्दलक्षण मंत्र नहीं जानता उसको तंत्र भी नहीं जान सकता, समरस में मग्न, पवित्र इस प्रकार प्रलाप करने वाला परम अवधूत होता है ॥ ७५ ।

सर्वशून्यमशून्यं च सत्यासत्ययं न विद्यते । स्वभावभावतः प्रोक्तं शास्त्रसंवित्तिपूर्वकम्॥७६॥

अर्थ—सर्व शून्य और अशून्य सत्य असत्य नहीं जाना जाता है,स्वभावही शास्त्रज्ञानपूर्वक कहा गया है ॥७६॥

इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीताया-मात्मसंवित्त्युपदेशो नाम प्रथमोऽध्यायः॥१॥

इत्यवधूतगीताभाषाटीकायामात्म संवित्त्युपदेशो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अवधूत उवाच ।

बालस्य वा विषयभोगरतस्य वापि मूर्खस्य सेवकजनस्य गृहस्थितस्य । एतद्गुरोः किमपि नैव न चिन्तनीयं रत्नं कथं त्यजति कोऽप्यशुचौ प्रविष्टम् ॥ १ ॥

भाषार्थ–अवधूतजीबोले-बालक अथवा विषयभोगमें रत, मूर्ख (बे पढ़ा), सेवक गृहस्थ गुरुसे उपदेश ग्रहण करनेमें कुछ भी बिचार नहीं करना चाहिये, अपवित्र स्थानमें पड़े हुए रत्न को कोई कैसे त्याग कर सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं त्याग करता ॥ १ ॥

नैवात्र काव्यगुण एव तु चिन्तनीयो ग्राह्यः परं गुणवता खलु सार एव । सिन्दूरचित्ररहिता भुवि रूपशून्या पारं न किं नयति नौरिह गन्तुकामान् ॥ २ ॥

अर्थ–गुरूके उपदेश ग्रहण करनेमें काव्यके गुण दोष नहीं बिचार करना चाहिये, गुणवान् पुरुष सारहीको ग्रहणकरते हैं, सिंदूर आदि रङ्गों से बेरङ्गी, खुरखुरी नौका नदीपार जाने वाले को क्या पार नहीं उतार देती है ? ॥ २ ॥

प्रयत्नेन विना येन निश्चलेन चलाचलम् ।
ग्रस्तं स्वभावतः शान्तं चैतन्यं गगनोपमम् ॥३॥

अर्थ–जिस निश्चल पुरुषसे चर अचर सब जगत् व्याप्त होरहा है, बिनाही प्रयत्न स्वभाव से वह गगनोपम शान्त चैतन्य हैं । ३॥

अयत्नाच्चालयेद्यस्तु एकमेव चराचरम् ।
सर्वगं तत्कथं भिन्नमद्वैतं वर्तते मम ॥ ४ ॥

अर्थ–जो बिना यत्न कियेही सब चराचर जगत्को चलायमान करता है, वह सर्वान्तर्यामी अद्वैत मुझ से किस प्रकार भिन्न है ? ॥४॥

अहमेव परं यस्मात्सारात्सारतरं शिवम् ।
गमागमविनिर्मुक्तं निर्विकल्पं निराकुलम् ॥५॥

अर्थ–जिससे कि मैं ही परे सारों का सार शिव गमागमविनिर्मुक्त निर्विकल्पं निराकुल हूं ।।५॥

सर्वावयवनिर्मुक्तं तदहं त्रिदशादिकम् ।
संपूर्णत्वान्न गृह्णामि विभागं त्रिदशार्चितम्॥६

अर्थ–मैं सब अवयवोंसे निर्मुक्त देवपूज्य हूं, सर्वव्यापकत्वसे देव आदिकों का भाग नहीं ग्रहण करता हूं ।।६॥

प्रमादेन न संदेहः किं करिष्यामि वृत्तिवान् ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते बुद्बुदाश्च यथा जले ॥७॥

अर्थ—प्रमादकरके वृत्तिवान् होकर, सन्देह नहीं क्या करूंगा ? जैसे जलमें बुलबुला उठते हैं और विलाय जाते हैं इसी प्रकार यह सब आत्मामें लीन होजाता है ॥ ७

महदादीनि भूतानि समाप्यैवं सदैव हि ।
मृदुद्रव्येषु तीक्ष्णेषु गुडेषु कटुकेषु च ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार महदादितत्त्व सदैव कोमल, तीक्ष्ण, मधुर, कटु द्रव्यों में व्याप्त होते हैं ॥८॥

कटुत्वं चैव शीतत्वं मृदुत्वं च यथा जले ।
प्रकृतिः पुरुषस्तद्वदभिन्नं प्रतिभाति मे ॥९॥

अर्थ—जैसे जलमें कटुत्व (पूर्णता अथवा निर्मलता), शैत्य (शीतलता) मृदुत्व (कोमलता) होती है, इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष मुझको अभिन्न ज्ञात होता है ॥९॥

सर्वाख्यारहितं यद्यत्सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं परम् ।
मनोबुद्धीन्द्रियातीतमकलङ्कं जगत्पतिम् ॥१०॥

अर्थ–जो सर्व कर्मरहित सूक्ष्मसे भी महासूक्ष्मतर और मन, बुद्धि व इन्द्रियोंसे परे कलंकरहित जगत्पति है। १०।

ईदृशं सहजं यत्र अहं तत्र कथं भवे।
त्वमेव हि कथं तत्र कथं तत्र चराचरम् ॥ ११॥

अर्थ–जहां ऐसा स्वाभाविक सुगुण है, वहां मैं और तुम तथा चर अचर यह भाव किस प्रकार माना जासकताहै? ११

गगनोपमं तु यत्प्रोक्तं तदेव गगनोपमम्।
चैतन्यं दोषहीनं च सर्वज्ञ पूर्णमेव च ॥ १२॥

अर्थ-जो गगनोपम कहा गयाहै उसकी तुलना गगनोपम नही होतीहै, वह चैतन्य, दोषहीन और सर्वज्ञ एवं पूर्णहै १२

पृथिव्यां चरितं नैव मारुतेन च वाहितम्।
वारिणा पिहितं नैव तेजोमध्ये व्यवस्थितम् ॥ १३

अर्थ–पृथ्वी पर नहीं विचरता, पवन से उड़ाया नही जाता, जल करके डुबाया नहीं जाता और तेज में भी व्यवस्थित नहीं है ॥ १३ ॥

आकाशं तेन संव्याप्तं न तद्व्याप्तं च केनचित्।
सबाह्याभ्यन्तरं तिष्ठत्यवच्छिन्नं निरन्तरम् ॥ १४॥

अर्थ–उससे सब आकाश परिपूर्ण हो रहा है, वह किसी से व्याप्त नहीं है, वह निरन्तर बाहर भीतर व्याप्त होकर स्थित है ।। १४ ।।

सूक्ष्मत्वात्तदद्दृश्यत्वान्निर्गुणत्वाच्च योगिभिः ।
आलम्बनादि यत्प्रोक्तं क्रमादालम्बनं भवेत् ।१५

अर्थ--सूक्ष्मत्व, अदृश्यत्व और निर्गुणत्व होने के कारण योगियों करके जो आलम्बनादि कहा गया है वही क्रम से आलम्बन होता है १५ ।।

सतताऽभ्यासयुक्तस्तु निरालम्बो यदा भवेत् ।
तल्लयाल्लीयते नान्तर्गुणदोषविवर्जितः ।।१६।।

अर्थ--सदा अभ्यासयुक्त होने से जिस समय निरालम्ब होता है तब उस आलम्ब के लय होने से बाह्यगुण दोष रहित होकर लीन हो जाता है ।। १६ ।।

विषविश्वस्य रौद्रस्य मोहमूर्छाप्रदस्य च ।
एकमेव विनाशाय ह्यमोघं सहजामृतम् ।।१७।।

अर्थ–कठिनसंसार के मोह मूर्छा देनेवाले विषय को विनाश

करने के लिये केवल आत्मबोधही सहज अमृत है अर्थात् आत्मज्ञानी पुरुष आवागमनसे छूट जाता है ॥१७॥

भावगम्यं निराकारं साकारं दृष्टिगोचरम् ।
भावाभावविनिर्मुक्तमन्तरालं तदुच्यते ॥१८॥

अर्थ–निराकार पदार्थ भावनासे जाना जाता है और साकार दृष्टिगोचर होता है, जो भाव और अभाव से निर्मुक्त होता है वह अन्तराल कहाता है ॥१८॥

बाह्यभावं भवेद्विश्वमन्तः प्रकृतिरुच्यते ।
अन्तरादन्तरं ज्ञेयं नालिकेरफलाम्बुवत् ॥१९॥

अर्थ-संसार बाह्य भावसे युक्त है और प्रकृति अन्तर्भाव-युक्त कही है, नारिकेलफल में जलके प्रवेश की भाँति आत्माको अन्तरका भी अन्तर जानो ॥१९॥

भ्रान्तिज्ञानं स्थितं बाह्ये सम्यग्ज्ञानं च मध्यगम् ।
मध्यान्मध्यतरं ज्ञेयं नालिकेरफलाम्बुवत् ॥२०॥

अर्थ–बाहरी ज्ञान भ्रान्तिज्ञान है, सम्यग्ज्ञान मध्यमें स्थित है और मध्यसे मध्यज्ञान आत्मा नारिकेलफल की भाँति जानना चाहिये ॥२०॥

पौर्णमास्यां यथा चन्द्र एक एवातिनिर्मलः।
तेन तत्सदृशं पश्येद्द्विधादृष्टिर्विपर्ययः ॥२१॥

अर्थ-पूर्णमासीका चन्द्रमा जैसे अकेलाही अतिनिर्मल होता है उसी भाँति आत्माको देखना चाहिये, द्विधादृष्टि विपर्यभावसे उत्पन्न होती है ॥२१॥

अनेनैव प्रकारेण बुद्धिभेदो न सर्वगः।
दाता च धीरतामेति गीयते नामकोटिभिः॥२२॥

अर्थ--यह इसी प्रकारसे बुद्धिभेद है, सर्वव्यापक आत्मामें बुद्धिभेद नहीं है, वह दाता और धीरता आदि करोड़ों नामोंसे गाया जाता है ॥२२॥

गुरुप्रज्ञाप्रसादेन मूर्खो वा यदि पण्डितः।
यस्तु संबुध्यते तत्त्वं विरक्तो भवसागरात् ॥२३॥

अर्थ-गुरु और प्रज्ञाके प्रसादसे मूर्ख हो यदि वा पंडित जो भली भाँति तत्त्वज्ञानी होजाता है वह संसारसागरसे विरक्त होकर ॥२३॥

रागद्वेषविनिर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः।
दृढबोधश्च धीरश्च स गच्छेत्परमं पदम् ॥२४॥

अर्थ--रागद्वेष से विनिर्मुक्त, सब प्राणियों के हित में तत्पर, दृढबोध और धीर हो जाता है, वह परम पद को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

घटे भिन्ने घटाकाश आकाशे लीयते यथा ।
देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि ॥ २५ ॥

अर्थ--घटके भिन्न (टूट जानेपर) घटकाश जैसे महदाकाशमें लय होजाताहै, उसी भांति जब देहाभाव होजाता है तब योगी परमात्मा में लीन हो जाता है? ॥ २५ ॥

उक्तेयं कर्ममुक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः ।
न चोक्ता योगयुक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः ॥

अर्थ--कर्मसे मुक्त पुरुषोंकी गति ऐसीही होती है जैसी अन्तके समय उनकी मति होती है और योगियों की अन्तिम गति वर्णन नहीं की जाती ॥ २६ ॥

या गतिः कर्मयुक्तानां सा च वागीन्द्रियाद्वदेत् ।
योगिनां या गतिः क्वापि ह्यकथ्या भवतोर्जिता ॥

अर्थ-कर्मसे युक्त पुरुषों की गति वाणी आदिसे वर्णन की जा सकती है और योगियों की गति अकथनीय है, वर्णन नहीं की जा सकती ॥ २७ ॥

एवं ज्ञात्वा त्वमुं मार्गं योगिनां नैव कल्पितम् ।
विकल्पवर्जनं तेषां स्वयं सिद्धिः प्रवर्तते ॥ २८ ॥

अर्थ--यह जानकर योगियों का यह मार्ग है ऐसी कल्पना नहीं हो सकती, विकल्पवर्ज नहीं. उनकी स्वयं सिद्धि होती है ॥ २८ ॥

तीर्थे वान्त्यजगेहे वा यत्र कुत्र मृतोऽपि वा ।
न योगी पश्यते गर्भं परे ब्रह्मणि लीयते ॥ २९ ॥

अर्थ--तीर्थ में वा चांडाल के घर में अथवा चाहे कहीं मरे, योगी कभी गर्भाशय को नहीं देखता, केवल परब्रह्म में लय हो जाता है ॥ २९ ॥

सहजमजमचिन्त्यं यस्तु पश्येत्स्वरूपं घटति यदि यथेष्टं लिप्यते नैव दोषैः । सकृदपि तदभावात्कर्म किंचिन्न कुर्यात्तदपि न च निबद्धः संयमी वा तपस्वी ॥ ३० ॥

अर्थ--जो पुरुष अपने सहज अज अचिन्त्य स्वरूप को देखता है, यदि उसके यथेष्ट कोई घटना होजाय तो वह दोषोंसे लिप्त नहीं होताहै, एक बार भी उसके अभावसे कोई

कर्म न करै तो भी संयमी और तपस्वी बन्धयुक्त नहीं होता है ॥ ३० ॥

निरामयं निष्प्रतिमं निराकृतिं निराश्रयं निवपुषं निराशिषम्। निर्द्वन्द्वनिर्मोहमलुप्तशक्तिकं तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३१॥

अर्थ-निरामय, निष्प्रतिम, निराकार, निराश्रय, विदेह, निराशिष, निर्द्वंद्व, निर्मोह, अलुप्त--शक्ति, उस ईश नित्य आत्माको योगीश्वर प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

वेदो न दीक्षा न च मुण्डनक्रिया गुरुर्न शिष्यो न च यत्र सम्पदः। मुद्रादिकं चापि न यत्र भासते तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३२॥

अर्थ-वेद, दीक्षा, मुण्डनक्रिया, गुरु शिष्य, यंत्रसंपदा, मुद्रादिक जिसमें भासित नहीं होते हैं, योगीश्वर उसी ईश शाश्वत आत्माको प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

न शाम्भवं शाक्तिकमानवं न वा पिण्डं च रूपं च पदादिकं न वा। आरम्भनिष्पत्ति घटादिकं च नो तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३३॥

अर्थ–न शांभव शाक्तिक है. न मानव, न पिंडरूप पदादि है, न आरम्भ निष्पत्ति और घटादिभी नहीं, योगी उसी ईश शाश्वत आत्मा को प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

यस्य स्वरूपात्सचराचरं जगदुत्पद्यते तिष्ठति लीयतेऽपि वा। पयोविकारादिव फेनबुद्बुदा-स्तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥ ३४ ॥

अर्थ--जलसे उत्पन्न हुए फैन और बुद्बुदों की भांति जिसके स्वरूपसे यह चराचर जगत् उत्पन्न पालन प्रलय होता है उस ईश शाश्वत आत्माको योगी प्राप्त होता है॥३४॥

नासानिरोधो न च दृष्टिरासनं बोधोऽप्यबो-धोऽपि न यत्र भासते । नाडीप्रचारोऽपि न यत्र किंचित्तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३५॥

अर्थ–जिसमें नासिका का निरोध, दृष्टि, आसन, बोध, अबोध नहीं मालूम होता है और नाडियों का चालनभी किंचित् नहीं होता है, उस ईश शाश्वत आत्माको योगी प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

नानात्वमेकत्वमुभत्वमन्यता अणुत्वदीर्घत्व-

महत्त्वशून्यता । मानत्वमेयत्वसमत्ववर्जितं तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—अनेकत्व, एकत्व, द्वित्व, अन्यत्व, अणुत्व, दीर्घत्व, ममत्व, शून्यत्व, महत्व जिसमें नहीं है, उसी ईश शाश्वत आत्माको योगी प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

सुसंयमी वा यदि वा न संयमी सुसंग्रही वा यदि वा न संग्रही । निष्कर्मको वा यदि वा सकर्मकस्तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—सुसंयमी अथवा असंयमी, सुसंग्रही अथवा असंग्रही, निष्कर्मके अथवा अकर्मक जिसको नहीं पाते हैं, उस ईश शाश्वत आत्माको योगी प्राप्त होता है ॥३७॥

मनो न बुद्धिर्न शरीरमिन्द्रियं तन्मात्रभूतानि न भूतपंचकम् । अहंकृतिश्चापि वियत्स्वरूपकं तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय, तन्मात्रभूत और भूतपंचक, अहंकार ये भी जहां नहीं पहुँचते हैं, उसी ईश शाश्वत आत्माको योगी प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

विधिर्निषेधो परमात्मतां गते न योगिनश्चेतसि भेदवर्जिते। शौचं न वाशौचमलिङ्गभावनासर्वं विधेयं यदि वा निषिध्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ–भेदरहित योगियोंके आत्मज्ञान होने पर विधि निषेध, शौच अशौच नहीं रहता है, लिंगरहित सम्पूर्ण भावना इत्यादि निषिद्ध विषयभी विधेय हो जाते हैं।।३९।।

मनो वचो यत्र न शक्तमीरितुं नूनं कथं तत्र गुरूपदेशता। इमां कथामुक्तवतो गुरोस्तद्युक्तस्य तत्त्वं हि समं प्रकाशते ॥ ४० ॥

अर्थ–मन और वाणी जहां कुछ कहने में समर्थ नहीं हैं, उसमें गुरु–उपदेशकी क्या कथा होगी ? जिस गुरुने इस कथा का वर्णन किया है, उसी गुरु से समतत्व प्रकाशित होता है ।। ४० ॥

इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायामात्मसंवित्त्युपदेशो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

इत्यवधूतगीता भाषाटीकायामात्मसंवित्त्युपदेशो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ॥

अवधूत उवाच ।

गुणविगुणविभागो वर्तते नैव किंचिद्रतिविर-
तिविहीनं निर्मलं निष्प्रपंचम्। गुणविगुणविहीनं
व्यापकं विश्वरूपं कथमहमिह वन्दे व्योमरूपं
शिवं वै ॥ १ ॥

अर्थ–अवधूतजी बोले–जिसमें गुणविगुणका विभाग कुछ नहीं है, रतिविरतिविहीन निर्मल निष्प्रपंच है। अतः गुणविगुणविहीन व्यापक विश्वरूप आकाशरूप शिवको मैं किस प्रकार स्तुति करूँ ? ॥ १ ॥

श्वेतादिवर्णरहितो नियतं शिवश्च कार्यं हि का-
रणमिदं हि परं शिवश्च । एवं विकल्प रहितोऽ
हममलं शिवश्च स्वात्मानमात्मानि सुमित्र कथं
नमामि ॥ २ ॥

अर्थ -जो सदा श्वेतादिवर्णरहित नियत कार्य कारण रूपहै, जो विकल्परूप अमल शिव है, जो आत्मा में आत्मा रूप दिखाई दे ऐसे सुमित्रको किस प्रकार प्रणाम करूँ? ॥२

निर्मूलमूलरहितो हि सदोदितोऽहं निर्धूमधूमर-

हितो हि सदोदितोऽहम् । निर्दीपदीपरहितो हि सदोदितोऽहं ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥

अर्थ-निर्मूल मूलरहित मैंही सदा प्रकाशितहूं, निर्धूम धूमरहित मैं सदा प्रकाशित हूं, निर्दीप दीपरहित मैं सदा प्रकाशित हूं मैं ज्ञानामृत समतत्त्व गगनोपम हूँ ॥ ३ ॥

निष्काममकाममिह नाम कथं वदामि निःसंगसंगमिह नाम कथं वदामि । निःसारसाररहितं च कथं वदामि ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ ४ ॥

अर्थ–निष्कामको कामनावाला मैं कैसे कहूं ? निःसंगको संगवाला मैं कैसे कहूं ? निस्सार साररहित मैं कैसे कहूं ? मैं ज्ञानामृत समरसगगनोपम हूं ॥ ४ ॥

अद्वैतरूपमखिलं हि कथं वदामि द्वैतस्वरूपमखिलं हि कथं वदामि । नित्यं त्वनित्यमखिलं हि कथं वदामि ज्ञानामृतं समर०॥ ५ ॥

अर्थ–अखिल अद्वैत रूपको मैं कैसे कहूं ? अखिल द्वैतरूपको मैं कैसे कहूं ? और अखिल नित्य अनित्य मैं

कैसे कहूं? क्योंकि, मैं ज्ञानामृत समरस गगनोपम हूं ॥ ५ ॥
स्थूलं हि नो नहि कृशं न गतागतं हि आद्यन्त-
मध्यरहितं न परापरं हि। सत्यं वदामि खलु
वै परमार्थतत्त्वं ज्ञानामृतं ॥ ६ ॥
समरसं गगनोपमोऽहम्
अर्थ—स्थूल नहीं, कृश नहीं, गतागत नहीं, आदि मध्य अन्त भी नहीं, परापर भी नहीं, मैं सत्य कहता हूं कि निश्चय करके मैं परमार्थत्व, ज्ञानामृत, समरस और गगनोपम हूं ॥ ६ ॥
संविद्धि सर्वकरणानि नभोनिभानि संविद्धि
सर्वविषयांश्च नभोनि भांश्च। संविद्धि चैकममलं
नहि बन्धमुक्तं ज्ञानामृतं समरसं० ॥ ७ ॥
अर्थ-सब इन्द्रियों को आकाशवत् जानो और शब्दादि सम्पूर्ण विषयों को आकाशवत् जानो एक, अमल बन्धमुक्तरहित, ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम मैं हूं, सो जानो ॥ ७ ॥
दुर्बोधबोधगहनो न भवाति तात दुर्लक्ष्यलक्ष्य
गहनो न भवामि तात। आसन्नरूपगहनो न
भवामि तात ज्ञानामृतं० ॥ ८ ॥

अर्थ--दुर्बोध गहन बोध नहीं हूं, हे तात ! दुर्लक्ष्य और लक्ष्य नहीं हूं, आमन्नरूप गहन भी नहीं हूं, मैं ज्ञानामृत समरस गगनोपम हूं ॥ ८

निष्कर्मकर्मदहनो ज्वलनो भवामि निर्दुःखदुः-खदहनो ज्वलनो भवामि । निर्देहदेहदहनो ज्वलनो भवामि ज्ञानामृतं० ॥ ९ ॥

अर्थ--निष्कर्म आत्माके कर्म दग्ध करने में अग्नि हूं, निर्दुःख आत्माके दुःख जलाने में ज्वलन स्वरूप हूं निर्देह होने से देहको भस्म करने में ज्वलन रूप हूं, इस प्रकार मैं ज्ञानामृत समरस गगनोपम हूं ॥ ९ ॥

निष्पापपापदहनो हि हुताशनोऽहं निर्धर्मधर्म-दहनो हि हुताशनोऽहम् निर्बन्धबन्धदहनो हि हुताशनोऽहं ज्ञानामृतं० ॥ १० ॥

अर्थ--निष्पाप आत्मा के पाप दग्ध करने में हुता-शन हूं, निर्धर्मका धर्म दग्ध करने में मैं हुताशन हूं, निर्बन्धका बन्ध दग्ध करने में हुताशन हूं, मैं ज्ञानामृत समरस गगनोपम हूं ॥ १० ॥

निर्भावभावरहितो न भवामि वत्स निर्योगयो-

गरहितो न भवामि वत्स। निश्चित्तचित्तरहितो न भवामि वत्स ज्ञानामृतं० ॥ ११ ॥

अर्थ-हे वत्स! मैं निर्भावभावरहित नहीं हूं, हे वत्स! मैं निर्योग योगरहित नहीं हूं। हे वत्स! निश्चित चित्तरहित भी मैं नहीं हूं. मैं ज्ञानामृत समरस गगनोपम हूं ॥११॥

निर्मोहमोहपदवीति न मे विकल्पो निःशोक-शोकपदवीति न मे विकल्पः। निर्लोभलोभपदवीति न मे विकल्पो ज्ञानामृतं० ॥ १२ ॥

अर्थ- निर्मोह और मोह पदवी का विकल्प मुझमें नहीं है, निःशोक शोकपदवी का भी विकल्प नहीं है, निर्लोभ लोभ पदवी का भी विकल्प मुझमें नहीं है, मैं ज्ञानामृत समरस गगनोपम हूं ॥ १२ ॥

संसारसंततिलता न च मे कदाचित्संतोषसंततिसुखे न च मे कदाचित्। अज्ञानबन्धनमिदं न च मे कदाचिज्ज्ञानामृतं० ॥ १३ ॥

अर्थ--मुझमें कभी संसारसंततिलता नहीं है. मुझमें सन्तोष विस्तार सुख कभी नहीं होता, मुझमें अज्ञानबंधन

भी नहीं । मैं केवल ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं॥ १३॥

संसारसंततिरजो न च मे विकारः संतापसंतति-
तमो न च मे विकारः । सत्त्वं स्वधर्मजनकं
न च मे विकारो ज्ञानामृतं० ॥ १४ ॥

अर्थ—मुझमें सांसारिक रजोविकार भी नहीं है और मुझमें विस्तृत सन्ताप तमोगुणरूप विकार भी नहीं है तथा स्वधर्मोत्पादक सत्वगुणरूप विकारभी मुझमें नहीं, मैं तो ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ १४ ॥

संतापदुःखजनको न विधिः कदाचित् संताप-
योगजनितं न मनः कदाचित् । यस्मादहंकृ-
तिरियं न च मे कदाचिज्ज्ञानामृतं० ॥१५॥

अर्थ—मुझमें सन्ताप दुःखजनक विधि भी कभी नहीं है, सन्तापयोगजनित मेरा मन कभी नहीं होता कि जिससे मुझमें अहङ्कार भी कभी नहीं होता । मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ १५ ॥

निष्कम्पकम्पनिधनं न विकल्पकल्पं स्वप्नप्रबो-
धनिधनं न हिताहितं हि । निःसारसारनिध-

नं न चराचरं हि ज्ञानामृतं० ॥ १६ ॥

अर्थ–निष्कम्प कम्पनिधन मैं नहीं हूं, न विकल्प कल्प हूं, मैं स्वप्न प्रबोध और हित अहित नहीं हूं, मैं निस्सार और सार नहीं हूं, निधन और चरअचर भी नहीं, क्योंकि मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥१६॥

नो वेद्यवेदकमिदं न च हेतुतर्क्यं वाचामगोचरमिदं न मनो न बुद्धिः। एवं कथं हि भवतः कथयामि तत्त्वं ज्ञानामृतं० १७ ॥

अर्थ-जो आत्मा वेद्यवेदक नहीं, कार्य कारण भी नहीं, वाणीसे अगोचर, मन बुद्धि भी जहां नहीं पहुँचती, ऐसे आत्मतत्त्वको मैं कैसे कहूं? मैं तो ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं,

निर्भिन्नाभिन्नरहितं परमार्थतत्त्वमन्तर्बहिर्न हि कथं परमार्थतत्त्वम् । प्राक्संभवं न च रतं नहि वस्तु किञ्चिज्ज्ञानामृतं स० ॥ १८ ॥

अर्थ–परमार्थतत्त्व निर्भिन्नभिन्नरहित है, परमार्थतत्त्वका भीतर बाहर नहीं है, प्राक्सम्भवता नहीं, लिप्त भाव नहीं, इससे अधिक कुछ नहीं है, मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं॥१८॥

रागादिदोष रहितं त्वहमेव तत्त्वं दैवादिदोष रहितं त्वहमेव तत्त्वम् । संसारशोकरहितं त्वहमेव तत्त्वम् ज्ञानामृतं० ॥ १९ ॥

अर्थ—रागादि दोष रहित मैं तत्त्व हूं, दैवादि दोष-रहित मैं ही तत्त्व हूं, संसार शोकरहित मैं ही तत्त्व हूं, मैं ज्ञानामृत, समरस गगनोपम हूं ॥ १९ ॥

स्थानत्रयं यदि च नेति कथं तुरीयं कालत्रयं यदि च नेति कथं दिशश्च । शान्तं पदं हि परमं परमार्थतत्त्वं ज्ञानामृतं० ॥ २० ॥

अर्थ—मैं तत्त्वके सम्बन्धमें जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अवस्था वाला नहीं हूं तो तुरीयावस्था कैसे सम्भव है? एवं भूतादि (भूत भविष्य वर्तमान) काल वाला नहीं हूं तो दिशाका सम्बन्ध कैसे सम्भव है। मैं परम शान्त पद परमार्थतत्त्व, ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥२०॥

दीर्घो लघुः पुनरितीह न मे विभागो विस्तारसंकटमितीह न मे विभागः। कोणं हि वर्तुलमितीह न मे विभागो ज्ञानामृतं० ॥ २१ ॥

अर्थ–मुझमें दीर्घ लघु विभाग नहीं है, विस्तार और संकीर्ण विभाग भी नहीं है, एवं कोण और वर्तुल विभाग भी नहीं है, मैं ज्ञानामृत, समरस गगनोपम हूं ॥२१॥

मातापितादि तनयादि न मे कदाचिज्जातं
मृतं न मनो न च मे कदाचित् निर्व्याकुलं
स्थिरमिदं परमार्थतत्त्वं ज्ञानामृतं० ॥ २२ ॥

अर्थ–मेरे माता पिता आदि और पुत्र आदि कोई नहीं, मैं उत्पन्न नहीं हुआ, न कभी मरा तथा मेरे मन भी नहीं है। मैं निर्व्याकुल, स्थिर, परमार्थतत्त्व, ज्ञानामृत समरस, गगनोपम हूं ॥ २२ ॥

शुद्धं विशुद्धमविचारमनन्तरूपं निर्लेपलेपम-
विचारमनन्तरूपम् । निःखण्डखण्डमविचार-
मनन्तरूपं ज्ञानामृतं ॥ २३ ॥

अर्थ–मैं शुद्ध विशुद्ध के भाव से अविचार अनन्तरूप हूं, निर्लेप लेप के भाव से अविचार अनन्त रूप हूं, निःखण्ड खण्ड भाव से अविचार अनन्तरूप हूं, मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ २३ ॥

ब्रह्मादयः सुरगणाः कथमत्र सन्ति स्वर्गादयो वसतयः कथमत्र सन्ति । यद्येकरूपममलं परमार्थतत्त्वं ज्ञानामृतं० ॥ २४ ॥

अर्थ-ब्रह्मा आदिक देवसमूह इस परमार्थतत्त्व में कैसे रहते हैं ? और स्वर्ग आदिक सब लोक कैसे स्थिर रहते हैं ? यदि एकरूप, अमल, परमार्थतत्त्व, ज्ञानामृत समरस, गगनोपम मैं हूं ॥ २४ ॥

निर्नेति नेति विमलो हि कथं वदामि निःशेष-शेषविमलो हि कथं वदामि । निर्लिप्तलिप्त-विमलो हि कथं वदामि ज्ञानामृ० ॥ २५ ॥

अर्थ-निर्नेति नेति विमल मैं कैसे कहूं ? और निशेष शेष विमल भी किस भांति कहूं ? तथा निर्लिप्त लिप्त विमल किस प्रकार कहूं ? मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥२५॥

निष्कर्मकर्म परमं सततं करोमि निःसंगसंग-रहितं परमं विनोदम् । निर्देहदेहरहितं सततं विनोदं ज्ञानामृतं० ॥ २६ ॥

अर्थ-मैं निष्कर्म हूं, परमकर्म निरन्तर करता हूं, सङ्ग-

रहित आनन्दसे युक्त हूं, मैं निर्देह हूं, देहरहित आनंदसे निरंतर युक्त हूं, मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥२६॥

मायाप्रपंचरचना न च मे विकारो कौटिल्य-
दम्भरचना न च मे विकारः । सत्यानृतेति
रचना न च मे विकारो ज्ञानामृतं ॥ २७ ॥

अर्थ–मुझमें मायाप्रपञ्च-रचना का विकार नहीं है और कुटिलता, दम्भरचना का भी विकार नहीं है, एवं सत्य अनृत रचना का विकार नहीं है। मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ २७ ॥

सन्ध्यादिकालरहितं न च मे वियोगो ह्यन्तः-
प्रबोधरहितं बहिरो न मूकः । एवं विकल्प-
रहितं न च भाव शुद्धं ज्ञानामृतं० ॥ २८ ॥

अर्थ–मैं सन्ध्यादि कालरहित हूं, मेरा वियोग नहीं है, मैं अन्तःप्रबोधहीन हूं और मैं बधिर (बहिरा), मूक (गूंगा) नहीं हूं, इसप्रकार विकल्परहित भावशुद्ध भी नहीं हूं, मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ २८ ॥

निर्नाथनाथरहितं हि निराकुलं वै निश्चितचित्त-

विगतं हि निराकुलं वै । संविद्धि सर्वविगतं हि निराकुलं वै ज्ञानामृतं० ॥ २९ ॥

अर्थ–निर्नाथनाथरहित, निराकुल और निश्चित्त चित्त-विगत निराकुल हूं । इसप्रकार मुझे जानो, मैं सर्वविगत, निराकुल, ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ २९ ॥

कान्तारमन्दिरमिदं हि कथं वदामि संसिद्ध संशयमिदं हि कथं वदामि । एवं निरन्तरसमं हि निराकुलं वै ज्ञानामृतं० ॥ ३० ॥

अर्थ–यह कान्तार मन्दिर है, यह कैसे कहूं ? यह संसिद्ध संशय है यह कैसे कहूं ? यह आत्मा निरन्तर सम निराकुल है ऐसा भी कैसे कहूं ? क्योंकि, मैं तो ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ ३० ॥

निर्जीवजीवरहितं सततं विभाति निर्बीजबीजरहितं सततं विभाति । निर्वाणबन्धरहितं सततं विभाति ज्ञानामृतं समरस० ॥ ३१ ॥

अर्थ–निर्जीव जीवरहित यह आत्मा निरन्तर शोभा को प्राप्त होता है और निर्बीज बीजरहित यह आत्मा शोभित

होता है, निर्वाणबन्धरहित यह आत्मा सदा शोभा पाता है, परन्तु मैं ज्ञानामृत, समरस गगनोपम हूं । ३१ ॥

संभूतिवर्जितमिदं सततं विभाति संसारवर्जितमिदं सततं विभाति । संहारवर्जितमिदं सततं विभाति ज्ञानामृतं० ॥ ३२ ॥

अर्थ—यह आत्मा सम्भूति (उत्पत्ति) रहित निरन्तर भान होता है । यह संसार (पालन) रहित सदा विदित होता है । यह संसार प्रलय—रहित सदा शोभित होता है, मैं तो ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥३२॥

उल्लेखमात्रमपि ते न च नामरूपं निर्भिन्नभिन्नमपि ते न हि वस्तु किंचित् । निर्लज्ज मानस करोषि कथं विषादं ज्ञानामृत ॥ ३३ ॥

अर्थ—तुम्हारा उल्लेखमात्र है, तुम्हारा नाम रूप नहीं है. तुमसे निर्भिन्न भिन्न कोई वस्तु नहीं है, हे निर्लज्जमानस! विषाद क्यों करता ? मैं तो ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ३३

किं नाम रोदिषि सखे न जरा न मृत्युः किं नाम रोदिषि सखे न च जन्मदुःखम् । किं नाम

रोदिषि सखे न च ते विकारो ज्ञानामृ०॥३४॥

अर्थ–हे सखे ! क्यों रोते हो ? तुममें जरा मृत्यु नहीं है, हे सखे ! क्यों रोते हो ? तुम जन्म दुःख से रहित हो, हे सखे ! क्यों रोते हो ? तुममें कोई विकार नहीं है और मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ ३४ ॥

किं नाम रोदिषि सखे न च ते सरूपं किं नाम रोदिषि सखे न च ते विरूपम् । किं नाम रोदिषि सखे न च ते वयांसि ज्ञानामृ० ॥ ३५ ॥

अर्थ–हे सखे ! क्यों रोते हो ? तुम्हारा सरूप नहीं है, हे सखे ! क्यों रोते हो ? तुम्हारा विरूप नहीं है, हे सखे ! क्यों रोते हो ? तुम्हारी आयु भी नहीं है, तुम ऐसे हो जैसे मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ ३५ ॥

किं नाम रोदिषि सखे न च ते वयांसि किं नाम रोदिषि सखे न च ते मनांसि । किं नाम रोदिषि सखे न तवेन्द्रियाणि ज्ञानामृ० ॥ ३६ ॥

अर्थ–हे सखे ! क्यों रोते हो ? तुम्हारी आयु नहीं और मन भी नहीं है. हे सखे! क्यों रोते हो? तुम्हारे इन्द्रियां भी नहीं

हैं, तुम ऐसेही जैसे मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥३६॥

किं नाम रोदिषि सखे न च तेऽस्ति कामः किं नाम रोदिषि सखे न च ते प्रलोभः । किं नाम रोदिषि सखे न च ते विमोहो ज्ञानामृ०॥३७॥

अर्थ—हे सखे ! क्यों रोते हो ? तुम में काम नहीं है और प्रलोभ भी नहीं है, तथा हे मित्र ! क्यों रुदन करते हो ? तुममें मोह नहींहै, तुम ऐसे हो जैसे मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ ३७ ॥

ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते धनानि ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते हि पत्नी । ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते ममेति ज्ञानामृ० ॥ ३८ ॥

अर्थ—ऐश्वर्यकी क्यों इच्छा करते हो ? तुम्हारे धन नहीं है. ऐश्वर्यकी क्यों चाहना करते हो ? तुम्हारे पत्नी नहीं है, ऐश्वर्यकी क्यों इच्छा करते हो? तुममें 'यह मेरा है' ऐसा भाव हैही नहीं, तुम ऐसे हो जैसे मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ ३८ ॥

लिङ्गप्रपञ्चजनुषी न च ते न मे च निर्लज्जमा-

नसमिदं च विभाति भिन्नम् । निर्भेद भेदरहितं न च ते न मे च ज्ञानामृतं० ॥ ३९ ॥

अर्थ—तुम्हारे और मेरे लिङ्गप्रपञ्च तथा जन्म नहीं है, निर्लज्ज मानस को यह सब भिन्न दिखाई पड़ता है, निर्भेद भेदरहित यह तुम्हारे मेरे नहीं, मैं तो ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ ३९ ॥

नो वाणुमात्रमपि ते हि विरागरूपं नो वाणुमात्रमपि ते हि सरागरूपम् । नो वाणुमात्रमपि ते हि सकामरूपं ज्ञानामृ० ॥ ४० ॥

अर्थ—तुम्हारा अणुमात्र भी विरागरूप नहीं है तथा तुम्हारा अणुमात्र भी सरागरूप नहींहै, तुम्हारा अणुमात्र भी सकामरूप नहीं है, तुम ऐसे हो जैसे मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ ४० ॥

ध्याता न ते हि हृदये न च ते समाधिर्ध्यानं न ते हि हृदये न बहिःप्रदेशः । ध्येयं न चेति हृदये नहि वस्तु कालो ज्ञाना० ॥ ४१ ॥

अर्थ—तुम्हारे हृदय में ध्याता, समाधि, ध्यान, ध्येय, वस्तु

और काल नहीं है, तुम ऐसे हो जैसे मैं ज्ञानामृत, समरस गगनोपम हूं ॥ ४१ ॥

यत्सारभूतमखिलं कथितं मया ते न त्वं न मे न महतो न गुरुर्न शिष्यः । स्वच्छन्दरूपसहजं परमार्थतत्त्वं ज्ञानामृ० ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो सारभूत है सो सब मैंने तुमसे कहा न तुम, न मैं, न बड़ा, न गुरु, न शिष्य, तुम स्वच्छन्दरूप सहज परमार्थतत्त्व हो, मैं ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम हूं ॥ ४२ ॥

कथमिह परमार्थं तत्त्वमानन्दरूपं कथमिह परमार्थं नैवमानन्दरूपम् । कथमिह परमार्थं ज्ञानविज्ञानरूपं यदि परमहमेकं वर्तते व्योमरूपम् ४३

अर्थ—परमार्थतत्त्वको आनन्दरूप कैसे कहूं ? जो परमार्थरूप है वह आनन्दरूप नहीं है, उसे कैसे कहूं ? और परमार्थ को किस प्रकार ज्ञान विज्ञानरूप कहूं ? जबकि मैं परे व्योमरूप हूं ॥ ४३ ॥

दहनपवनहीनं विद्धि विज्ञानमेकमवनिजलविहीनं विद्धि विज्ञानरूपम् । समगमनविहीनं विद्धि विज्ञानमेकं गगनमिव विशालं विद्धि विज्ञानमेकम् ४४

अर्थ—अग्नि, पवनहीन एक विज्ञानको जानो, विज्ञानरूपको पृथ्वी जलसे भिन्न मानो, विज्ञानहीको सम और गमनहीन जानो, आकाशके समान विशाल एक विज्ञानको जानो ॥४४॥

न शून्यरूपं न विशून्यरूपं न शुद्धरूपं न विशुद्धरूपम् । रूपं विरूपं न भवामि किंचित्स्वरूपरूपं परमार्थतत्त्वम् ॥ ४५ ॥

अर्थ--मैं न शून्यरूप हूं, न विशून्यरूप हूं, न शुद्धरूप हूं, न विशुद्धरूप हूं, एवं मैं रूप विरूप भी नहीं हूं, मैं स्वरूपरूप परमार्थतत्त्व हूं ॥ ४५ ॥

मुञ्च मुञ्च हि संसारं त्यागं मुञ्च हि सर्वथा । त्यागात्त्यागविषं शुद्धममृतं सहजं ध्रुवम् ॥ ४६ ॥

अर्थ--संसार को छोड़ो छोड़ो और सर्वथा त्याग को छोड़ो, क्योंकि त्याग तथा अत्याग विष है और तुम शुद्ध, अमृत, सहज, ध्रुव हो ॥ ४६ ॥

इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीताया-मात्मसंवित्त्युपदेशो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इत्यवधूतगीताभाषाटीकायामात्मसंवित्त्युपदेशो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रीदत्त उवाच ।

नावाहनं नैव विसर्जनं वा पुष्पापि पत्राणि कथं भवन्तिं । ध्यानानि मन्त्राणि कथं भवन्ति समासमं चैव शिवार्चनं च ॥ १ ॥

अर्थ-श्रीदत्तात्रेयजी बोले-उस देवका न आवाहन है, न विसर्जन ही है, तो पुष्प पत्रों का क्या होगा और ध्यान मन्त्र किसका होगा ? शिवार्चन समासमरूप है ॥ १॥

न केवलं बन्धविबन्धमुक्तो न केवलं शुद्ध-विशुद्धमुक्तः । न केवलं योगवियोगमुक्तः स वै विमुक्तो गगनोपमोऽहम् ॥ २ ॥

अर्थ-जो केवल बन्ध निबन्ध मुक्त नहीं और केवल शुद्ध विशुद्ध मुक्त नहीं, एवं केवल योग वियोग मुक्त नहीं, वही मैं विमुक्त गगनोपम हूं ॥ २ ॥

संजायते सर्वमिदं हि तथ्यं संजायते सर्वमिदं वितथ्यम् । एवं विकल्पो मम नैव जातः स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ३ ॥

अर्थ-यह सब सत्य है अथवा यह सब असत्यही है

इस प्रकार विकल्प मेरे नहीं होता, मैं स्वरूपनिर्वाण अनामय हूं ॥ ३ ॥

न साञ्जनं चैव निरञ्जनं वा न सान्तरं वापि निरंतरं वा । अन्तर्विभिन्नं नहि मे विभाति स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ४ ॥

अर्थ–न सांजन और न निरञ्जन और न सान्तर न निरन्तर तथा न अंतर्विभिन्न मुझमें भासित होता है, मैं स्वरूपनिर्वाण अनामय हूं ॥ ४ ॥

अबोधबोधो मम नैव जातो बोधस्वरूपं मम नैव जातम् । निर्बोधबोधं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ५ ॥

अर्थ--मुझमें अबोध बोध नहीं होता, बोधस्वरूपभी नहीं होता है । निर्बोध बोध मैं कैसे कहूं ? मैं स्वरूप-निर्वाण अनामय हूं ॥ ५ ॥

न धर्मयुक्तो न च पापयुक्तो न बन्धयुक्तो न च मोक्षयुक्तः । युक्तं त्वयुक्तं न च मे विभाति स्वरूप० ॥ ६ ॥

अर्थ-मैं धर्मयुक्त और पापयुक्त नहीं हूं और न बन्धयुक्त हूं, न मोक्षयुक्त हूं। मेरा स्वरूप युक्त अयुक्त नहीं जान पड़ता। मैं स्वरूपनिर्वाण अनामय हूं ॥६॥

परापरं वा न च मे कदाचिन्मध्यस्थभावो हि न चारिमित्रम्। हिताहितं चापि कथं वदामि स्वरूप० ॥ ७ ॥

अर्थ-मुझमें पर अपर भाव कभी नहीं होता है और मध्यस्थभाव अरिभाव भी नहीं होता है। हिताहित स्वरूप कैसे कहूं? मैं निर्वाणस्वरूप और अनामय हूं ॥ ७ ॥

नोपासको नैवमुपास्यरूपं न चोपदेशो न च मे क्रिया च। संवित्स्वरूपं च कथं वदामि स्व.॥८॥

अर्थ-मुझमें उपासक उपास्यरूप नहीं और न उपदेश है, न क्रिया है, संवित् स्वरूप भी मैं कैसे कहूं? क्योंकि मैं निर्वाणस्वरूप अनामय हूं। ८ ॥

नो व्यापकं व्याप्यमिहास्ति किंचिन्न चालयं वापि निरालयं वा। अशून्यशून्यं च कथं वदामि स्वरूप० ॥ ९ ॥

अर्थ--इस आत्मा में न कुछ व्यापक है न व्याप्य है, न आलय है और न निरालय है, शून्य अशून्य भी कैसे कहूं ? मैं तो निर्वाणस्वरूप अनामय हूं ॥ ९ ॥

न ग्राहको ग्राह्यकमेव किंचिन्न कारणं वा मम नैव कार्यम् । अचिन्त्यचिन्त्यं च कथं वदामि स्वरूप० ॥ १० ॥

अर्थ–मुझमें ग्राहक और ग्राह्य कुछ नहीं, कारण और कार्य भाव भी नहीं है। अचिन्त्य चिन्त्य भी मैं कैसे कहूं ? मैं तो निर्वाणस्वरूप अनामय हूं ॥ १० ॥

न भेदकं वापि न चैव भेद्यं न वेदकं वा मम नैव वेद्यम् । गतागतं तात कथं वदामि स्वरूपनि० ११

अर्थ–मैं न भेदक हूं न भेद्य और मुझमें वेदक और वेद्य भाव भी नहीं है । हे तात ! गतागत मैं कैसे कहूं ? मैं तो निर्वाणस्वरूप अनामय हूं ॥ ११ ॥

न चास्ति देहो न च मे विदेहो बुद्धिर्मनो मे न हि चेन्द्रियाणि । रागो विरागश्च कथं वदामि स्वरूप० ॥ १२ ॥

अर्थ--मेरे देह विदेह भाव नहीं और बुद्धि, मन, इन्द्रियां भी नहीं, तो रागविराग की क्या कथा ? मैं तो निर्वाणस्वरूप और अनामय हूं ॥ १२ ॥

उल्लेखमात्रं नहि भिन्नमुच्चैरुल्लेखमात्रं न तिरोहितं वै। समासमं मित्र कथं वदामि स्वरूप०॥ १३॥

अर्थ–उल्लेख मात्र से वह भिन्न नहीं है, न उच्च उल्लेख मात्र से वह तिरोहित है। तो हे मित्र ! समागम कैसे कहूं ? मैं तो निर्वाणस्वरूप और अनामय हूं ॥१३॥

जितेन्द्रियोऽहं त्वमितेन्द्रियो वा न संयमो मे नियमो न जातः । जयाजयौ मित्र कथं वदामि स्वरूप० ॥ १४ ॥

अर्थ–जितेन्द्रिय वा अजितेन्द्रिय मैं नहीं हूं, मुझमें संयम नियम भी नहीं है। तो हे मित्र ! जय पराजय मैं कैसे कहूं ? मैं तो निर्वाणस्वरूप अनामय हूं ॥ १४ ॥

अमूर्तमूर्तिर्न च मे कदाचिदाद्यन्तमध्यं न च मे कदाचित् । बलाबलं मित्र कथं वदामि स्वरूप० ॥ १५ ॥

अर्थ—मुझ अमूर्ति की कभी मूर्ति नहीं होती है और आदि अन्त मध्य भी मुझमें नहीं है । हे मित्र ! बलाबल मैं कैसे कहूं ? मैं तो निर्वाणस्वरूप अनामय हूं ॥१५॥

मृतामृतं वापि विषाविषं च संजायते तात न मे कदाचित्। अशुद्धशुद्धं च कथं वदामि स्व० १६

अर्थ—हे तात ! मुझमें मृत अमृत अथवा विष अविष कभी नहीं होता, तो अशुद्ध शुद्ध किस भांति कहूं ? क्योंकि मैं निर्वाणस्वरूप और अनामय हूं ॥१६॥

स्वप्नः प्रबोधो न च योगमुद्रा नक्तं दिवा वापि न मे कदाचित् । अतुर्यतुर्यं च कथं वदामि स्वरूप० ॥ १७ ॥

अर्थ—मुझ में कभी स्वप्नप्रबोध नहीं, योगमुद्रा नहीं और रात दिन नहीं, तो अतुर्य तुर्यभाव कैसे कहूं ? मैं तो निर्वाणस्वरूप अनामय हूं ॥ १७ ॥

संविद्धि मां सर्वविसर्वमुक्तं माया विमाया न च मे कदाचित् । संध्यादिकं कर्म कथं वदामि स्वरूप० ॥ १८ ॥

अर्थ—मुझको तुम सर्व विसर्व मुक्त जानो, कभी मुझमें माया अमाया नहीं होती है, तो फिर सन्ध्यादि कर्म कैसे कहूं ? मैं निर्वाणस्वरूप अनामय हूं ॥ १८ ॥

संविद्धि मां सर्वसमाधियुक्तं संविद्धि मां लक्ष्यविलक्ष्यमुक्तम् । योगं वियोगं च कथं वदामि स्वरूप० ॥ १९ ॥

अर्थ—मुझको सर्व समाधि युक्त जानो और लक्ष्य विलक्ष्य मुक्त मानो तो योग वियोगको कैसे कहूं ? क्योंकि मैं निर्वाणस्वरूप अनामय हूं ॥ १९ ॥

मूर्खोऽपि नाहं न च पण्डितोऽहं मौनं विमौनं न च मे कदाचित् । तर्कं वितर्कं च कथं वदामि स्वरूप० ॥ २० ॥

अर्थ—मैं मूर्ख भी नहीं हूं और पण्डित नहीं हूं तथा मौन विमौन भी मेरे कभी नहीं तो तर्क वितर्क भी कैसे कहूं ? मैं निर्वाणस्वरूप अनामय हूं ॥ २० ॥

पिता न माता न कुलं न जातिर्जन्मादि मृत्यु-

र्न च मे कदाचित् । स्नेहं विमोहं च कथं वदामि स्वरूप० ॥ २१ ॥

अर्थ—पिता, माता कुल और जाति मुझे नहीं, जन्म आदि नहीं, न कभी मेरी मृत्यु हुई तो स्नेह विमोह को मैं कैसे कहूं ? मैं निर्वाणस्वरूप अनामय हूं ॥ २१ ॥

अस्तंगतो नैव सदोदितोऽहं तेजो वितेजो न च मे कदाचित् । संध्यादिकं कर्म कथं वदामि स्वरूप० ॥ २२ ॥

अर्थ—मैं अस्त नहीं होता हूं, सदा उदय रहता हूं, तेज वितेज कभी नहीं होता तो सन्ध्यादि कर्म कैसे कहूं ? मैं निर्वाणस्वरूप अनामय हूं ॥ २२ ॥

असंशयं विद्धि निराकुलं मामसंशयं विद्धि निरन्तरं माम् । असंशयं विद्धि निरञ्जनं मां स्व० २३

अर्थ—मुझको असंशय निराकुल जानो, मुझको असंशय निरन्तर मानो, एवं मुझको असंशय निरञ्जन जानो । मैं निर्वाणस्वरूप अनामय हूं ॥ २३ ॥

ध्यानानि सर्वाणि परित्यजन्ति शुभाशुभं कर्म

परित्यजन्ति । त्यागामृतं तात पिवन्ति धीरा स्वरूप० ॥ २४ ॥

अर्थ–हे तात ! धीरगण सम्पूर्ण ध्यान परित्याग करते हैं और शुभ अशुभ कर्म परित्याग करते हैं, त्यागामृत पीते हैं अर्थात् त्यागरूप अमृत का पान करते हैं। मैं निर्वाण स्वरूप अनामय हूं ॥ २४ ॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र छन्दोलक्षणं नहि नहि तत्र । समरसमग्नो भावितपूतः प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः ॥ २५ ॥

अर्थ--जहां जानने में नहीं आता है, वहां छन्द लक्षण नहीं जानना। समरसमग्नभाव पवित्र अवधूत परमतत्त्व प्रलाप करता है ॥ २५ ॥

इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायां स्वामिकार्तिकसम्बादे स्वात्मसंवित्त्युपदेशे स्वरूपनिर्णयो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इत्यवधूतगीता भाषाटीकायामात्मसंवित्त्युपदेशे स्वरूपनिर्णयोनाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीदत्त उवाच ।

ॐमिति गदितं गगनसमं तन्न परापरसार विचार इति । अविलासविलासनिराकरणं कथमक्षरबिन्दुसमुच्चरणम् ॥ १ ॥

अर्थ-श्रीदत्तात्रेयजी बोले-ओंकार को गगनसमान कहा सो परापर सार विचार नहीं है । अक्षरबिन्दु के भली भांति उच्चारण में अविलास विलास किस प्रकार निराकरण होगा ? ॥ १ ॥

इति तत्त्वमसिप्रभृतिश्रुतिभिः प्रतिपादितमात्मनि तत्त्वमसि । त्वमुपाधिविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥ २ ॥

अर्थ-तत्त्वमसि आदि श्रुति वाक्योंसे आत्माको तत्त्वमसि प्रतिपादन किया है । त्वम् यह उपाधिवर्जित सर्व सम है तो सर्व सम तुम किस कारण मनमें रोदन करते हो ॥ २ ॥

अतऊर्ध्वविवर्जितसर्वसमं बहिरन्तरवर्जितसर्वसमम् । यदि चैकविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषि मानसि सर्वसमम् ॥ ३ ॥

अर्थ--यह आत्मा नीचा ऊँचा नहीं है, सर्व सम है, बाहर

भीतर नहीं, सर्व सम है, यदि एक भी विवर्जित होकर सर्व सम हो तो सर्व सम होकर मनमें तुम क्यों रुदन करते हो?

नहि कल्पितकल्पविचार इति नहि कारणकार्य-
विचार इति । पदसंधिविवर्जितसर्वसमं किमु० ४

अर्थ--यहां कल्पित कल्पविचार नहीं है और कारण-कार्यका विचार नहींहै, यह पद संधिविवर्जित सर्व सम भाव है । तुम सर्वसम किस कारण मनमें रोते हो ? ॥ ४ ॥

नहि बोधविबोधसमाधिरिति नहिं देशविदेश-
समाधिरिति । नहि कालविकालसमाधिरिति
किमु० ॥ ५ ॥

अर्थ--यह बोध प्रबोधकी समाधि नहींहै, यह देश विदेशसमाधि नहीं है यह काल अकाल समाधि नहीं है, तो सर्वसम होकर तुम क्यों मनमें रुदन करते हो ॥ ५ ॥

नहि कुम्भनभो नहि कुम्भ इति नहि जीववपुर्नहि
जीव इति।नहि कारणकार्यविभाग इति किमु० ६

अर्थ--यह घटाकाश वा घट नहीं है, जीवशरीर वा जीव नहीं है, यह कारणकार्य विभाग नहीं है, तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रोदन करते हो ? ॥ ६ ॥

इह सर्वनिरन्तरमोक्षपदं लघुदीर्घविचारविहीन
इति । नहि वर्तुलकोणविभाग इति किमु रोदि० ७

अर्थ--यह सर्व निरन्तर मोक्ष पद है, यह लघु दीर्घ विचाररहित है, इसमें वर्तुल कोण विभाग नहीं है तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ? ॥ ७ ॥

इह शून्यविशून्यविहीन इति इह शुद्धविशुद्धवि-
हीन इति । इह सर्वविसर्वविहीन इति किमु०॥ ८

अर्थ—यह शून्य अशून्य विहीन है, यह शुद्ध विशुद्ध विहीन है, यह सर्व विसर्व विहीन है, तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ? ॥ ८ ॥

नहि भिन्नविभिन्नविचार इति बहिरन्तरसंधि-
विचार इति । अरिमित्रविवर्जितसर्वसमं किमु० ९

अर्थ—इसमें भिन्नविभिन्न विचार नहीं है, बाहर भीतर और संधिका विचार नहीं है, यह आत्मा शत्रु मित्ररहित सर्वसम है तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ?॥ ९॥

नहि शिष्यविशिष्यसरूप इति न चराचरभेद-
विचार इति।इह सर्वनिरन्तरमोक्षपदं किमु० १०

अर्थ—यह शिष्य विशिष्य सरूप नहीं है, इसमें चराचर भेदविचार नहीं है, यह सर्व निरन्तर मोक्ष पद है, तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ? ॥ १०॥

ननु रूपविरूपविहीन इति ननु भिन्नविभिन्नविहीन इति। ननु सर्गविसर्गविहीन इति किमु० ११

अर्थ—यह रूप विरूप विहीन है, यह भिन्न विभिन्न से विहीन है, यह सर्ग विसर्ग विहीन है, तो सर्वसम तुम क्यों मनमें रुदन करते हो ? ॥ ११ ॥

न गुणागुणपाशनिबन्ध इति मृतजीवनकर्म करोमि कथम्। इति शुद्धनिरञ्जनसर्वसमं किमु० १२

अर्थ—यह गुण अगुण पाशनिबन्ध नहीं है, इसमें मृत जीवनका विचार नहीं है, यह शुद्ध निरञ्जन सर्वसम है, तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ? ॥१२॥

इह भावविभावविहीन इति इह कामविकामविहीन इति। इह बोधतमं खलु मोक्षसमं किमु० १३

अर्थ—यह भाव विभावरहित है यह कामविकाम विहीन है, यह बोधतम मोक्षसम है, तो तुम सर्वसम हो मनमें क्यों रुदन करते हो ? ॥ १३ ॥

इह तत्त्वनिरन्तरतत्त्वमिति नहि संधिविसंधिवि
हीन इति।यदि सर्वविवर्जितसर्वसमं किमु०॥१४

अर्थ—यह तत्त्व निरन्तर तत्त्व नहींहै, यह सन्धि विसन्धि नहीं है, यदि यह सर्व विवर्जित सर्वसम है, तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ? ॥ १४ ॥

अनिकेतकुटीपरिवारसमं इह संगविसंगविही-
नपरम् । इह बोधविबोधविहीनपरं किमु०॥१५॥

अर्थ—इसमें आलय निरालय परिवार नहीं है, यह संग विसंग विहीन है और बोध विबोध विहीन है, तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ? ॥ १५ ॥

अविकारविकारमसत्यमिति अविलक्षविलक्ष-
मसत्यमिति । यदि केवलमात्मनि सत्यमिति
किमु० ॥ १६ ॥

अर्थ--यह अविकार विकार असत्य है, यह अविलक्ष विलक्ष असत्य है, यदि केवल आत्माही सत्यहै, तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ? ॥ १६ ॥

इह सर्वतमं खलु जीव इति इह सर्वनिरन्तरजी-

म इति। इह केवलनिश्चलजीव इति कि०॥१७॥

अर्थ--यह सर्वतम जीव है, यह सर्व निरन्तर जीव है, यह केवल निश्चल जीव है, तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ? ॥ १७ ॥

अविवेकाविवेकमबोध इति अविकल्पाविकल्पमबोध इति। यदि चैकनिरन्तरबोध इति किमु० १८

अर्थ--यह अविवेक विवेक अबोध है, यह अविकल्प विकल्प बोध है, यह एक निरन्तर बोध है, तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ? ॥ १८ ॥

नहि मोक्षपदं नहि बन्धपदं नहि पुण्यपदं नहि पापपदम्। नहि पूर्णपदं नहि रिक्तपदं किमु० १९

अर्थ--यह मोक्षपद नहीं, बन्धुपद नहीं, पुण्यपद नहीं, पापपद नहीं, पूर्ण और रिक्तपद नहीं है, तो सर्वसम तुम क्यों मनमें रुदन करते हो ? ॥ १९ ॥

यदि वर्णविवर्णविहीनसमं यदिकारणकार्यविहीनसमम्। यदि भेदाविभेदाविहीनसमं कि०॥२०

अर्थ--यदि यह वर्ण विवर्ण विहीन है, यदि यह कार्य

कारणविहीन है,सम है और यदि भेद विभेद विहीन और सम है,तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो? ।२०॥

इह सर्वनिरन्तरसर्वचिते इह केवलनिश्चलसर्वचिते । द्विपदादिविवर्जितसर्वचिते किं० ॥२१॥

अर्थ–यह सर्व निरन्तर सर्वसे पूर्ण है,यह केवल निश्चल सर्व चैतन्य है, यह द्विपदादिवर्जित सर्व चैतन्य है, तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ? ॥ २१ ॥

आतसर्वनिरन्तरसर्वगतं रतिनिर्मलनिश्चलसर्वगतम् । दिनरात्रिविवर्जितसर्वगतं किमु० ॥२२॥

अर्थ–यह आत्मा तत्त्व निरन्तर सर्वगत है,रति निर्मल निश्चल सर्वगत है,दिनरात्रिविवर्जित सर्वगत है. तो तुम सर्वसम मनमें क्यों रोते हो ? ॥ २२ ॥

नहि बन्धविबन्धसमागमनं नहि योगवियोगसमागमनम् । नहि तर्कवितर्कसमागमनं किमु रोदि० ॥ २३ ॥

अर्थ–यह बन्ध विबन्ध समागमन नहीं है, यह योग वियोग समागमन नहीं है,यह तर्क वितर्क समागमन नहीं है,तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ? ।।२३॥

इह कालविकालनिराकरणमणुमात्रकृशानुनिराकरणम्। नहि केवलसत्यनिराकरणं किमु०।२४

अर्थ—इसमें काल विकाल का निराकरण होता है, अणुमात्र कृशानुका निराकरण होता है, केवल सत्यका निराकरण नहीं होता है, तो सर्वसम मनमें तुम क्यों रुदन करते हो ? ।। २४ ।।

इह देहविदेहविहीन इति ननु स्वप्नसुषुप्तिविहीनपरम्। अभिधानविधानविहीनपरं किमु०२५

अर्थ--यह आत्मा देह विदेह विहीन है, यह स्वप्न सुषुप्ति विहीन पर है, यह अभिधान विधान विहीन परहै, तो मनमें सर्वसम तुम क्यों रुदन करते हो ? ।। २५ ।।

गगनोपमशुद्धविशालसमं अतिसर्वविवर्जितसर्वसमम्। गतसारविसारविकारसमं किमु०।।२६।।

अर्थ—यह समतत्त्व गगनोपम विशाल सर्वरहित विगत सार विसार और विगतविकार है, तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ? ।। २६ ।।

इह धर्मविधर्मविरागतरं इह वस्तुविवस्तुविराग-

तरम् । इह कामविकामविरागतरं किमु० ॥२७॥

अर्थ—यह धर्माधर्ममें विराग रखता है, इसमें वस्तु अवस्तुमें विराग होता है और काम अकाममें विराग होताहै, तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो ? ॥ २७ ॥

सुखदुःखविवर्जितसर्वसममिहशोकविशोकविहीनपरम् ।गुरुशिष्यविवर्जिततत्त्वपरं किं०॥२८

अर्थ—यह सुखदुःख-विवर्जित सर्वसम है, यह शोक विशोक विहीन परे है, गुरु शिष्य विवर्जित परमतत्त्व है, तो मनमें सर्वसम तुम क्यों रुदन करते हो ? ॥ २८ ॥

न किलांकुरसारविसार इति न चलाचलसाम्यविसाम्यमिति । अविचारविचारविहीनमिति किमु० ॥ २९ ॥

अर्थ—यह सार विसार अंकुर मात्र भी नहीं है, यह चल अचल साम्य विसाम्य नहीं है, अविचार विचार विहीन नहीं है, तो सर्वसम तुम क्यों मनमें रुदन करते हो ? ॥२९॥

इह सारसमुच्चयसारमिति कथितं निजभावविभेद इति।विषये करणात्वमसत्यमिति किमु०॥३०॥

अर्थ—यह सारसमुच्चयका सार है, अपने भाव के विभेदसे तत्त्व कहा गया है, विषयकरणत्व में असत्य कहागया है, तो सर्वसम मनमें तुम क्यों रुदन करते हो? ॥ ३० ॥

बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति यतो वियदादिरिदं मृगतोयसमम्। यदि चैकनिरन्तरसर्वसमं कि०॥३१

अर्थ—अनेक श्रुतियां इसीसे यों कहती हैं कि आकाश आदि मृगतृष्णाके समानहैं, यदि एक निरन्तर सर्वसम है, तो सर्वसम तुम मनमें क्यों रुदन करते हो? ॥ ३१ ॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र छन्दोलक्षणं नहि नहि तत्र। समरसमग्नो भावितपूतः प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—'विन्दति विन्दति' इस श्लोक का अर्थ पूर्व लिख चुके हैं ॥ ३२ ॥

इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायां स्वामिकार्तिकसम्वादे आत्मसंविच्युपदेशे समदृष्टिकथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इत्यवधूतगीताभाषाटीकायामात्मसंविच्युपदेशे समदृष्टिकथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

श्रीदत्त उवाच ।

बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति वयं वियदादिरिदं मृगतोयसमम् । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवमुपमेयमथो ह्युपमा च कथम् ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीदत्तात्रेयजी बोले—अनेक श्रुतियां कहती हैंकि आकाश आदि यह सर्व जगत् मृगतृष्णिकावत् है, यदि ऐसाही है, एक निरन्तर सर्व शिव उपमेय है, तो उसकी उपमा कहां है ? ॥ १ ॥

अविभक्तिविभक्तिविहीनपरं ननु कार्यविकार्यविहीनपरम् । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं यजनं च कथं तपनं च कथम् ॥ २ ॥

अर्थ—यह अविभक्ति विभक्ति विहीन परहै, कार्य विकार्य विहीन परम पदार्थ है, यदि एक निरन्तर सर्व शिव है, तो यजन तपस्या किस प्रकार संभव है ? ॥ २ ॥

मनएव निरन्तरसर्वगतं ह्यविशालविशालविहीनपरम् । मन एव निरन्तरसर्वशिवं मनसापि कथं वचसा च कथम् ॥ ३ ॥

अर्थ—मन ही निरन्तर सर्वगत है, अविशाल विशाल-विहीन सर्व पदार्थ है, मन ही निरन्तर सर्व शिवहै, तो मनसे और वाणी से अर्चन कैसा ? ॥ ३ ॥

दिनरात्रिविभेदनिराकरणमुदितानुदितस्य निराकरणम् । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं रविचन्द्रमसौ ज्वलनश्च कथम् ॥ ४ ॥

अर्थ—दिनरात्रिका भेद निराकरण है, उदित अनुदित भेद निराकृत है, यदि वह सर्व शिव निरन्तर एकहै, तो सूर्य, चन्द्र, अग्निका होना किस प्रकार संभव है ? ॥४॥

गतकामविकामविभेद इति गतचेष्टविचेष्टविभेद इति । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं बहिरन्तरभिन्नमतिश्च कथम् ॥ ५ ॥

अर्थ-यदि एक निरन्तर सर्व शिव है तो काम विकाम विभेद, चेष्टा विचेष्टा विभेद नष्ट होता है, फिर बाहर भीतर में भिन्नमति कैसे हो सकती है ? ॥ ५ ॥

यदिसारविसारविहीन इति यदि शून्यविशून्यविहीन इति । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं

प्रथमं च कथं चरमं च कथम् ॥६॥

अर्थ–यदि यह सार विसार विहीन है, यदि शून्य अशून्य विहीन है, यदि सर्व निरन्तर एक शिव है, तो पहिला पिछला कैसे हो सकता है ? ॥६॥

यदि भेदविभेदनिराकरणं यदि वेदकवेद्यनिराकरणम् । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं तृतीयं च कथं तुरीयं च कथम् ॥ ७ ॥

अर्थ–यदि भेद विभेदका निराकरण है, और वेद्य वेदक भी निराकृत है, यदि एक निरन्तर सर्व शिव है, तो जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय अवस्था का कैसे संभव है? ॥७॥

गदितागदितं नहि सत्यमिति विदिताविदितं नहि सत्यमिति । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं विषयेन्द्रियबुद्धिमनांसि कथम् ॥८॥

अर्थ–कथित अकथित सत्य नहीं है और विदित अविदित सत्य नहीं है, यदि एक निरन्तर सर्व शिव है, तो विषय इन्द्रिय बुद्धि मन कैसे हो सकते हैं ? ॥८॥

गगनं पवनो नहि सत्यमिति धरणी दहनो

नहि सत्यमिति । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
जलदश्च कथं सलिलं च कथम् ॥९॥

अर्थ—आकाश वायु सत्य नहीं है, पृथ्वी अग्नि सत्य नहीं है, जो एक निरन्तर सर्व शिव है, तो मेघ और जल का होना कैसे संभव है ? ॥ ६ ॥

यदि कल्पितलोकनिराकरणं यदि कल्पित-
देवनिराकरणम् । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
गुणदोषविचारमतिश्च कथम् ॥१०॥

अर्थ—यदि कल्पित लोक और कल्पित देवों का निराकरण है और यदि सत्य निरन्तर सर्व शिव है, तो गुण दोष के विचार में कैसे बुद्धि हो सकती है ? ॥१०॥

मरणामरणंहि निराकरणं करणाकरणं हि
निराकरणम् । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं गमन-
नागमनं हि कथं वदति ॥११॥

अर्थ—मरण अमरण का निराकरण है और करण अकरणका निराकरण है, यदि एक निरन्तर सर्व शिव है, तो गमनागमन क्यों कहते हो ? ॥ ११ ॥

प्रकृतिः पुरुषो नहि भेद इति नहि कारणाकार्यविभेद इति । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं पुरुषापुरुषं च कथं वदंति ॥१२॥

अर्थ–प्रकृति पुरुष का भेद, कार्यकारण का भेद ये दोनों नहीं हैं, यदि एक निरन्तर सर्वशिव है, तो पुरुष अपुरुष किस भांति कहते हो ? ॥१२॥

तृतीयं नहिदुःखसमागमनम न गुणाद्द्वितीयस्यसमागमनम । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं स्थविरश्च युवा च शिशुश्च कथम ॥१३॥

अर्थ–तीसरी अवस्थाका दुःख समागमन नहीं है और गुणों से द्वितीय अवस्थाका समागमन नहीं है और यदि एक निरन्तर सर्व शिव है, तो वृद्धा, युवा और बाल अवस्था कैसी ? ॥१३॥

ननु आश्रमवर्णविहीनपरं ननु कारणकर्तृविहीनपरम् । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवंमविनष्टविनष्टमतिश्च कथम् ॥१४॥

अर्थ–जो यह परमतत्त्व आश्रमवर्णविहीन परे है और

कारणकर्तृविहीन परे है और यदि एक निरन्तर सर्व शिव है, तो अविनष्ट विनष्ट मति कैसे हो सकती है ?॥१४॥

असितासितं च वितथ्यमिति जनिताजनितं च वितथ्यमिति । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवम-विनाशि विनाशि कथं हि भवेत् ॥१५॥

अर्थ—असित असित असत्य है और जनित अजनित असत्य है, यदि एक निरन्तर सर्व शिव है, तो विनाशी अविनाशी कैसे हो सकता है ? ॥१५॥

पुरुषापुरुषस्य विनष्टमिति वनितावनितस्य विनष्टमिति । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवमवि-नोदविनोदमतिश्च कथम ॥१६॥

अर्थ—यदि पुरुषापुरुष विनष्ट है और वनितावनित का विनाश है और यदि एक सर्व शिव निरन्तर है, तो अवि-नोद विनोद मति कैसे संभव है ? ॥१६॥

यदि मोहविषादविहीनपरो यदि संशयशोक-विहीनपरः । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवमहमे-ति ममेति कथं च पुनः ॥ १७ ॥

अर्थ—यदि यह आत्मा मोह विषाद से विहीन और परे है तथा यदि संशय शोक से विहीन और परे है और यदि एक निरन्तर सर्व शिव परमात्मा है, तो फिर अहंकार और ममता कैसे हो सकती है ? ॥ १७ ॥

ननु धर्मविधर्मविनाश इति ननु बन्धविबन्धविनाश इति । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवामेह दुःखविदुःखमतिश्च कथम् ॥१८॥

अर्थ—यदि धर्म अधर्म का विनाश है और बन्ध अबन्ध का विनाश है और यदि एक निरन्तर सर्व शिव तो दुःख विदुःख बुद्धि का होना कैसे संभव है ? ॥१८॥

नहि याज्ञिकयज्ञविभाग इति न हुताशनवस्तुविभाग इति । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं वद कर्मफलानि भवन्ति कथम ॥१९॥

अर्थ--याज्ञिक यज्ञविभाग नहीं और हुताशन वस्तु विभाग नहीं, यदि एक निरन्तर सर्व शिव है, तो कहो कर्मफल कैसे हो सकते हैं ? ॥१६॥

ननु शोकविशोकविमुक्त इति ननु दर्पविदर्प-

द्विमुक्त इति । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ननु रागविरागमतिश्च कथम ॥२०॥

अर्थ--यदि शोक और विशोक से विमुक्त तथा दर्प विदर्पसे विमुक्त यह आत्मा है और यदि एक निरन्तर सर्व शिव है, तो रागविराग बुद्धि कहां है ? ॥२०॥

नहिं मोहविमोहविकार इति नहि लोभविलोभविकार इति । यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ह्यविवेकविवेकमतिश्च कथम् ॥२१॥

अर्थ–मोह विमोह विकार नहीं है और लोभ विलोभ विकार भी नहीं है और यदि एक निरन्तर सर्व शिव है, तो अविवेक विवेक बुद्धि कैसे हो सकती है ? ॥२१॥

त्वमहं नहि हन्त कदाचिदपि कुलजातिविचारमसत्यमिति । अहमेव शिवः परमार्थ इति अभिवादनमत्र करोमि कथम ॥२२॥

अर्थ--तुम नहीं, मैं नहीं और कुल जाति विचार भी सत्य नहीं, मैं ही परमतत्त्व शिव हूं, तो अभिवादन यहां कैसे करूं ॥२२॥

गुरुशिष्यविचारविशीर्ण इति उपदेशविचार-विशीर्ण इति। अहमेव शिवः परमार्थ इति अभिवादनमत्र करोमि कथम् ॥ २३ ॥

अर्थ—गुरु शिष्य का विचार झूंठा है और उपदेश विचार भी सत्य नहीं है और मैं ही परमार्थ शिव हूं, तो यहां अभिवादन किस प्रकार करूं ? ॥ २३ ॥

नहि कल्पितदेहविभाग इति नहि कल्पित-लोकविभाग इति। अहमेव शिवः परमार्थ इति अभिवादनमत्र करोमि कथम् ॥ २४ ॥

अर्थ—यह कल्पित देह विभाग नहीं और कल्पित लोक विभागभी नहीं है और मैं ही परमतत्त्व शिव हूं तो यहां अभिवादन [प्रणाम] कैसे करूं ? ॥२४।

सरजो विरजो न कदाचिदपि ननु निर्मल-निश्चलशुद्ध इति। अहमेव शिवः परमार्थ इति अभिवादनमत्र करोमि कथम् ॥ २५ ॥

अर्थ—इसमें राग विराग कभी नहीं और यह निर्मल अचल और शुद्ध है तथा मैं ही परमार्थ रूप शिव हूं तो

यहां अभिवादन किसको करूं ? ॥२५॥

नहि देहविदेहविकल्प इति अनृतं चरितं नहि सत्यमिति । अहमेव शिवः परमार्थ इति अभिवादन मत्र करोमि कथम् ॥ २६ ॥

अर्थ—देह विदेह विकल्प नहीं, अनृत चरित्र सत्य नहीं और मैं ही परमार्थ शिव हूं तो यहां अभिवादन किसको करूं ? ॥ २६ ॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र छन्दोलक्षण नहि नहि तत्र । समरसमग्नो भावितपूतः प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः ॥२७॥

अर्थ—'विन्दति विन्दति०' इस श्लोकका अर्थ पूर्व लिख चुके हैं ॥२७॥

इति श्री दत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायां स्वात्मसंवित्त्युपदेशे मोक्षनिर्णयो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इत्यवधूतगीताभाषाटीकायामात्मसंवित्त्युपदेशे मोक्षनिर्णयो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

श्रीदत्त उवाच ।

रथ्याकर्पटविरचितकन्थः पुण्यापुण्यविवर्जित पन्थः । शून्यागारे तिष्ठति नग्नो शुद्धनिरञ्जन समरसमग्नः ॥ १ ॥

अर्थ–श्रीदत्तात्रेयजी बोले-छिन्न भिन्न वस्त्रोंसे बनी हुई गुदड़ी सहित पुण्य पाप से विवर्जित मार्गका अवलम्बन करके शुद्ध निरञ्जन समरसमग्न दिगम्बर (अवधूत) शून्य स्थान में अवस्थान करते हैं ॥ १ ॥

लक्षालक्षविवर्जितलक्ष्यो युक्तायुक्तविवर्जितदक्षः । केवलतत्त्वनिरञ्जनपूतो वादविवादःकथमवधूतः

अर्थ–लक्षालक्ष से विवर्जित लक्ष्य, युक्तायुक्त से विवर्जित दक्ष केवल तत्त्वस्वरूप निरञ्जन पवित्र अवधूत के वादविवाद नहीं होता है ॥ २ ॥

आशापाशविबन्धनमुक्तः शौचाचारविवर्जितयुक्तः । एवं सर्वविवर्जितसन्तस्तत्त्वं शुद्धनिरञ्जनवन्तः ॥ ३ ॥

अर्थ–आशापाश-निबन्धनमुक्त शौचाचार-विवर्जित

और युक्त इस प्रकार सबसे विवर्जित होकर परमतत्त्व अवधूत हुए हैं ॥ ३ ॥

कथमिह देहविदेहविचारः कथमिह रागविरागविचारः । निर्मलनिश्चलगगनाकारं स्वयमिह तत्त्वं सहजाकारम् ॥४॥

अर्थ—इस दशा में देहविदेहका विचार कहां है ? इस अवस्था में राग विराग कहां है ? निर्मल निश्चल गगनाकार तत्त्व केवल सहजाकार स्वयं तत्त्व है ॥ ४ ॥

कथमिह तत्त्वं विन्दति यत्र रूपमरूपं कथमिह तत्र । गगनाकारः परमो यत्र विषयीकरणं कथमिह तत्र ॥ ५ ॥

अर्थ—जहां रूप अरूप कुछ नहीं है वहां तत्त्वलाभ क्या होगा ? जहां गगनाकारही परमतत्त्व है, वहां विषयीकरण किस प्रकार से हो सकता है ? ॥ ५ ॥

गगनाकारनिरन्तरहंसस्तत्त्वविशुद्धनिरञ्जनहंसः । एवं कथमिह भिन्नविभिन्नं बन्धविबन्धविकारविभिन्नम् ॥ ६ ॥

अर्थ—गगनाकारके निरन्तर होनेपर शुद्ध निरंजन तत्त्वका उदय होता है, इस तत्त्व में भिन्न विभिन्न बंध विबंध

और विकार विभिन्न आदि कैसे संभव है ? ॥६॥

केवलतत्त्वनिरन्तरसर्वं योगवियोगौ कथमिह गर्वम् । एवं परमनिरन्तरसर्वं एवं कथमिह सारविसारम् ॥ ७ ॥

अर्थ—केवल तत्त्व निरन्तर है, उस तत्त्व में योग वियोग व गर्व नहीं, परम निरन्तर सर्व इस प्रकार होता है, इस निरन्तर सर्व में सार विसार नहीं होता है॥ ७ ॥

केवलतत्त्वनिरञ्जनसर्वं गगनाकारनिरन्तरशुद्धम् । एवं कथमिह संगविसगं सत्यं कथमिह रङ्गविरङ्गम् ॥ ८ ॥

अर्थ—निरञ्जन सर्व ही केवल तत्त्व है, यह गगनाकार निरन्तर शुद्ध है,इसमें संग विसंग रंग विरंग नहीं है ८॥

योगवियोगै रहितो योगी भोगविभोगै रहितो भोगी । एवं चरति हि मन्दंमन्दं मनसा कल्पितसहजानन्दम् ॥९॥

अर्थ—इस तत्त्व में योग वियोग रहित और भोग विभोग रहित होकर मनःकल्पित सहजानन्द में मन्द मन्द विचरण करता है । ९॥

बोधाविबोधैः सततं युक्तो द्वैताद्वैतैः कथमिह मुक्तः। सहजो विरजः कथमिह योगी शुद्ध-निरंजनसमरसभोगी ॥ १० ॥

अर्थ–बोधविशेष और द्वैताद्वैतद्वारा सदा युक्त रहने पर किस प्रकार मुक्त हो सकता है ? योगी के सम्बन्ध में सहज विरज किस प्रकार होगा ? योगी शुद्ध निरंजन समरस योग करते रहते हैं ॥१०॥

भग्नाभग्नविवर्जितभग्नो लग्नालग्नविवर्जितलग्नः। एवं कथमिह साराविसारः समरसतत्त्वं गगनाकारः ॥ ११ ॥

अर्थ–इस तत्त्व में भग्न अभग्न नहीं, लग्न अलग्न नहीं और सार विसार नहीं, यह समरस तत्त्व गगनाकार है।११।

सततं सर्वविवर्जितयुक्तः सर्वं तत्त्वाविवर्जितमुक्तः। एवं कथमिह जीवितमरणं ध्यानाध्यानैः कथमिह करणम् ॥१२॥

अर्थ–इस तत्त्व में योगी सदा सर्वविवर्जित और युक्त है, सर्व तत्त्वविवर्जित अथवा मुक्त है, इस तत्त्वमें जीवित मरण नहीं है, ध्यानाध्यान कहां है ? ॥१२॥

इन्द्रजालमिदं सर्वं यथा मरुमरीचिका । अख-
ण्डित मनाकारो वर्तते केवलः शिवः ॥१३॥

अर्थ—यह मरीचिका के समान यह इन्द्रजाल है, यह शिवस्वरूप केवल मात्र अखण्डित अनाकार है ॥१३॥

धर्मादौ मोक्षपर्यन्तं निरीहाः सर्वथा वयम् ।
कथं रागविरागैश्च कल्पयन्ति विपाश्चितः ॥१४॥

अर्थ—हम धर्म से लेकर मोक्ष पर्यन्त सर्व विषय में चेष्टारहित हैं, सो पण्डितजन मुझमें राग विराग की कल्पना क्यों करते हैं ? ॥१४॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र छन्दोलक्षणं
नहि नहि तत्र । समरसमग्नो भावितपूतःप्रल-
पति तत्त्वं परमवधूतः ॥ १५ ॥

अर्थ—'विन्दति विन्दति०' इस श्लोक का अर्थ पूर्व लिख चुके हैं ॥१५॥

इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायाम० स्वामिकार्ति-
कसं०स्वात्मसंविच्युपदेशे सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

इत्यवधूतगीताभाषाटीकायां स्वामिकार्तिकसंवादे
स्वात्मसंविच्युपदेशे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

श्रीदत्त उवाच ।

त्वद्यात्रया व्यापकता हता ते ध्यानेन चेतः- परता हता ते । स्तुत्या मया वाक्परता हता- ते क्षमस्व नित्यं त्रिविधापराधान् ॥ १ ॥

अर्थ–श्रीदत्तात्रेयजी बोले-हमने आपका दर्शन करनेके लिये किसी एक देश विशेष में गमन किया, यह हमारा प्रयत्न आपकी सर्वव्यापकता का नाशक हुआ और हमने आपका ध्यान करके आपकी मनःपरता अर्थात् मनोऽतीतरूपता नष्ट करनेका व्यापार किया, एवं आपकी स्तुति करके हमने आपकी वाक्परता अर्थात् वचोऽतीत-रूपता के घात करने का उद्योग किया, इन तीन प्रकार के नित्य के अपराधों को क्षमा कीजिए ॥ १ ॥

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः । अ- नीहो मितभुक्शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः २

अर्थ–सम्पूर्ण कामनाओंसे जिसकी बुद्धि हत नहीं हुई, जो दान्त, मृदु, शुचि, अकिञ्चन, निरीह, मिताहारी, शान्त, स्थिर, आत्मा की शरण में है, वह मुनि है।।२॥

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः । अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥३॥

अर्थ—जो अप्रमत्त, गंभीरात्मा, धैर्यवान्, जितेन्द्रिय अमानी, मानदाता, मैत्र, कल्प, कारुणिक और कवि है ॥३॥

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥४॥

अर्थ—तथा जो कृपालु, अकृतद्रोह, सर्व देह धारियोंके प्रति तितिक्षु, सत्यसार, अनवद्यात्मा, सम, सर्वोपकारक होता है उसीको मुनि कहते है ॥४॥

अवधूतलक्षणं वर्णैर्ज्ञातव्यं भगवत्तमैः ।
वेदवर्णार्थतत्त्वज्ञैर्वेदवेदान्तवादिभिः ॥५॥

अर्थ—इस समय वेद वर्णार्थ जानने वाले वेदवेदान्त-वादियों ने अवधूत के लक्षण जो अवधूत शब्दके वर्ण वर्ण (अक्षर २) में कहे हैं उन्हें जानना उचित है। ५।।

आशापाशविनिर्मुक्त आदिमध्यान्तनिर्मलः ॥
आनन्दे वर्तते नित्यमकारं तस्य लक्षणम् ॥६॥

अर्थ—अवधूतशब्द के अकारसे यह अर्थ ग्रहण किया जाता है कि आशा के जलसे विनिर्मुक्त, आदि मध्य अन्त अर्थात् त्रिकालमें निर्मल, आनन्द [ब्रह्म अथवा ब्रह्मा-नन्द] में नित्य निमग्न रहनेवाला, ये लक्षण अकार के अर्थ हैं ॥६॥

वासनावर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम् ।
वर्तमानेषु वर्तेत वकारं तस्य लक्षणम् ॥७॥

अर्थ–वासनारहित है इस कारण निरामय है और वर्तमानमें वर्तता है, यह वकार का लक्षण है ।।७।

धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तो निरामयः ।
धारणाध्याननिर्मुक्तो धूंकांरस्तस्य लक्षणम् ॥८॥

अर्थ–धूलिसे धूसर शरीर, पवित्र चित्त, निरामय, धारणा ध्यान निर्मुक्त, धूकार अक्षरसे उसके ये लक्षण जानना ८

तत्वचिन्ता धृता येन चिन्ताचेष्टाविवर्जितः ।
तमोऽहंकारनिर्मुक्तस्तकारस्तस्य लक्षणम्॥९॥

अर्थ–तत्त्वचिन्ता जिसने धारण करी, चिन्ता की चेष्टा से रहित, तमोगुण अहंकार से रहित, तकार अक्षर करके अवधूत के यह लक्षण जानना ॥९॥

आत्मानं चामृतं हित्वा अभिन्नं मोक्षमव्ययम्।
गतो हि कुत्सितः काको वर्तते नरकं प्रति॥१०

अर्थ--आत्मा को मिथ्यात्व से पृथक् कर, अभिन्न अव्यय मोक्ष अमृत आत्मा को त्याग कर काक [कौवा] कुत्सित नरक की ओर दौड़ता है ॥१०॥

मनसा कर्मणा वाचा त्यजतां मृगलोचनाः ।
न ते स्वर्गोऽपवर्गो वा सानन्दं हृदयं यदि॥ ११ ॥

अर्थ–मन, कर्म और वाणी से स्त्रियों का त्याग करै. यदि ऐसा नहीं करैगा तो तेरे लिये स्वर्ग, अपवर्ग और हृदयानन्द नहीं है ॥ ११ ॥

न जानामि कथं तेन निर्मिता मृगलोचना ।
विश्वासघातकीं विद्धि स्वर्गमोक्षसुखार्गलाम् १२

अर्थ–नहीं जानता हूं कि स्त्रियाँ संसारमें क्यों उत्पन्न हुई हैं ? इन्हें विश्वासघातिनी जानो, स्वर्ग और मोक्ष-सुख के द्वार के रोकने वाली हैं ॥१२॥

मूत्रशोणितदुर्गन्धे ह्यमेध्यद्वारदूषिते ।
चर्मकुण्डे ये रमन्ते ते लिप्यन्ते न संशयः ॥१३॥

अर्थ--मूत्र शोणित से दुर्गन्धित, अपवित्र द्वारसे दूषित चर्मकुंड (स्त्रियों के योनिच्छिद्र) में जो रमण करते हैं, वे पाप में लिपटते हैं ॥ १३ ॥

कौटिल्यदम्भसंयुक्ता सत्यशौचाविवर्जिता ।
केनापि निर्मिता नारी बन्धनं सर्वदेहिनाम् १४

अर्थ–कुटिलता और दंभ से युक्त, सत्य और शौच(प-

वित्रता) से रहित, सब देहधारियोंका बन्धन ऐसी स्त्रियों को किसने बनाया है ? । १४ ॥

त्रैलोक्यजननी धात्री सा भगं नरको ध्रुवम् ।
तस्यां जातो रतस्तत्र हाहा संसारसंस्थितिः १५

अर्थ–नारी त्रैलोक्यजननी और धात्री है. उसका भग नरकरूप है, हा ! शोककी बात है कि जिसमें उत्पन्न हो उसीमें रमण करें ॥ १५ ॥

जानामि नरकं नारीं ध्रुवं जानामि बन्धनम् ।
यस्यां जातो रतस्तत्र पुनस्तत्रैव धावति॥ १६॥

अर्थ–मैं स्त्री को नरक जानता हूं और निश्चय करके नारी को बन्धन रूप जानता हूं फिर जिसमें जन्म लिया उसी में रमण और धावमान होना ।। १६ ॥

भगादिकुचपर्यन्तं संविद्धि नरकार्णवम् ।
ये रमन्ते पुनस्तत्र तरन्ति नरकं कथम् ॥१७॥

अर्थ–भगसे कुच पर्यन्त नरकका समुद्र जानो, जो उसमें रमण करते हैं वे नरक से कैसे तर सकते हैं अर्थात् दुःखों से कैसे छूट सकते हैं ? ॥ १७ ॥

विष्ठादिनरकं घोरं भगं च परिनिर्मितम् ।

किमु पश्यसि रे चित्त कथं तत्रैव धावसि ॥१८॥

अर्थ–विष्ठा आदि और भग घोर नरक हैं, रे चित्त! तू क्या उनको नहीं देखता? फिर क्यों वहाँ दौड़ता है? ॥१८॥

भगेन चर्मकुण्डेन दुर्गन्धेन व्रणेन च ।
खण्डितं हि जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥१९॥

अर्थ--चर्मकुँड, दुर्गन्धित व्रणयुक्त भग ने देवता असुर मनुष्य सहित सर्व जगत खंडित कर डाला है ॥ १६ ॥

देहार्णवे महाघोरे पूरितं चैव शोणितम् ।
केनापि निर्मिता नारी भगं चैव अधोमुखम् ॥२०

अर्थ--देहार्णव महाघोर जो कि रक्त से परिपूर्ण होरहा है, ऐसे दुष्ट शरीर में नारीकी अधोमुख(नीचे मुखवाली) भग किसने बनाई ? ॥ २० ॥

अन्तरे नरकं विद्धि कौटिल्यं बाह्यमण्डितम् ।
ललितामिह पश्यति महामन्त्रविरोधिनीम् ॥२१

अर्थ--भीतर नरक,बाहर कुटिलता से शोभितहैं, पण्डित जन स्त्रीको महामंत्रविरोधिनी देखते हैं । २१ ॥

आज्ञात्वा जीवितं लब्धं भवस्तत्रैव देहिनाम् ।
अहो जातो रतस्तत्र अहो भवविडम्बना ॥२२॥

अर्थ--देहधारीगण अज्ञानतासे जीवनलाभ कर उसी में रत रहते हैं, अहो ! जहाँ अर्थात् जिस भग से जन्म लिया उसीमें रमण करते हैं, क्या उनका जन्म विडम्बना नहीं है ? अर्थात् अवश्य है ॥ २२ ॥

तत्र मुग्धा रमन्ते च सदेवासुरमानवाः ।
ते यान्ति नरकं घोरं सत्यमेव न संशयः ॥२३॥

अर्थ--देवता, मनुष्य, असुर जो मोहित होकर स्त्री रमण करते हैं वे घोर नरक को जाते हैं, यह सत्यही है, इसमें संशय नहीं है ॥ २३ ॥

अग्निकुण्डसमा नारी घृतकुम्भसमो नरः ।
संसर्गेण विलीयेत तस्मात्तां परिवर्जयत् ॥२४॥

अर्थ--अग्निकुन्ड के समान नारी (स्त्री) और घृतकुंभ (घीके घड़ा) के समान पुरुष है, जिस प्रकार अग्नि-कुन्ड के समीप घीका भरा घड़ा रख देने से घी बह कर नष्ट हो जाता है और अधिक आंच लगने से घड़ा टूट जाता है उसी प्रकार नारी के संसर्ग से नर विलीयमान [नष्ट] हो जाता है, इस कारण नारी का परित्याग करै ॥ २४ ॥

गौडी माध्वी तथा पेष्टी विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।

चतुर्थी स्त्री सुरा ज्ञेया ययेदं मोहितं जगत्॥ २५

अर्थ—गौडी और माध्वी तथा पैष्टी नामा तीन प्रकार की सुरा [दारू] हैं. चौथी सुरा स्त्री को जानो, जिसके द्वारा यह जगत् मोहित है ॥ २५ ॥

मद्यपानं महापापं नारीसंगस्तथैव च ।
तस्माद्द्वयं परित्यज्यतत्त्वनिष्ठो भवेन्मुनिः॥ २६ ॥

अर्थ—मदिरा का पीना पाप है, इसी प्रकार स्त्रीं का संगभी पापरूप है, इसकारण मुनिजन इन दोनोंका त्याग कर तत्त्वनिष्ठ होते हैं ॥ २६ ॥

चित्ताक्रान्तं धातुबद्धं शरीरं नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम् । तस्माच्चित्तं सर्वतो रक्षणीयं स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संभवन्ति ॥२७॥

अर्थ—चित्त के खींचे रहने पर शरीर की धातुयें बंधी रहती हैं और चित्तके नष्ट होनेसे धातुओंका नाश होता है, इस कारण चित्त की रक्षा सब प्रकार से करै अर्थात् चित्तको सब ओरसे सावधान रक्खे स्वस्थ[सावधान]चित्त [मन] होने से बुद्धियों का प्रादुर्भाव होता है ।.२७॥

१. 'चिन्ता-' इति पाठान्तरम् ।

दत्तात्रेयावधूतेन निर्मितानन्दरूपिणा ।
ये पठन्ति च शृण्वन्ति तेषां नैव पुनर्भवः ॥२८॥

अर्थ-आनन्दरूप दत्तात्रेय अवधूत करकेरची हुई यह गीता जो मनुष्य पढ़ते हैं अथवा सुनते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता है ॥ २८ ॥

इति श्रीदत्तात्रेयकृतायामवधूतगीतायां स्वामिकार्तिकसंवादेस्वात्मसंवित्युपदेशोऽष्टमोऽध्यायः

इत्यवधूतगीताभाषाटीकायां स्वात्मसंवित्युपदेशोऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

टीकाकारकी प्रार्थना ।

अतिशीघ्रतया चेयं कृता व्याख्या मया किल ।
अत्र कुत्राप्यशुद्धं चेत्क्षन्तव्यं विबुधैर्जनैः ॥१॥

अति शीघ्रतासे इस अवधूतगीताकी व्याख्या मैंने की है, यदि इसमें कहीं कुछ भी अशुद्ध लेख होगया हो तो उसको विद्वान् जन क्षमा करैं, यह हमारी प्रार्थना है ॥ १ ॥

इत्यवधूतगीता--भाषाटीका समाप्ता ।

अथ

सप्तश्लोकी गीता ।

भाषाटीकासहिता ।

नत्वा द्वैपायनं टीकां कुर्वेऽहं साधुहर्षिणीम् ।
गीतायाः सप्तपद्याया अद्वैतामृतवर्षिणीम् ॥



ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीकृष्णजी महाराज अर्जुनजीसे कहते हैं कि हे अर्जुन ! 'ओम्' इस एक (अद्वितीय) अक्षर(अविनाशी)ब्रह्म अर्थात् 'ॐ' इस नाम को कहता हुआ और मेरा स्मरण करता हुआ जो पुरुष देह का परित्याग करता है वह परम गति को प्राप्त होता है ॥१॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवंति
सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः॥२॥

अर्थ-अर्जुनजी श्रीकृष्णजीसे कहते हैं, कि हे हृषीकेश ! आपके माहात्म्य के संकीर्तन से केवल मैं ही नहीं, किन्तु सारा जगत् आनंदित तथा अनुरक्त होता है और राक्षस भयभीत हो चारों दिशाओं को भागते हैं तथा

सम्पूर्ण सिद्धगण प्रणाम करते हैं, यह सब आप में योग्य ही है ॥ २ ॥

सर्वतः पाणिपादंतत्सर्वतोऽक्षिशिरो-
मुखम् सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृ-
त्यातिष्ठाति ॥ ३ ॥

अर्थ–जिसके सब तरफ हाथ, पांव, नेत्र, शिर, मुख और कर्ण आदि अङ्ग हैं और जो सब में व्यापके रहा है ॥ ३ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिंत्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसःपरस्तात् ॥४॥

अर्थ–जो पुरुष सर्वज्ञ प्राचीन, नियंता, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबका पोषक,

अचिंत्यरूप आदित्यवर्ण (सूर्य के समान अपने को और दूसरों को प्रकाशित करने वाला है वर्ण जिसका) और तम से (माया अधिकार से) परे परमात्मा का स्मरण करता है ॥ ४ ॥

उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थंप्राहुरव्ययम् । छंदांसियस्यपर्णानियस्तं वेदसवेदावित ॥ ५ ॥

अर्थ—श्री भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! क्षराक्षरोत्कृष्ट पुरुष (ईश्वर) जिसका मूल है, व कार्योपाधि जो ब्रह्मादि स्थावर जंगम ये सब एक के नीचे एक हैं वेही जिसकी डालियां हैं, तथा जो अश्वत्थ है (कल के प्रातःकाल पर्यंत रहेगा ऐसा विश्वास नहीं है क्यों कि विनाशी है) और अज्ञान दृष्टि

से जो संसार प्रवाह वाला होने से नित्य सा दीखता है इससे इस वृक्ष को अव्यय कहते हैं, धर्माधर्मादिकथनद्वारा सब संसार को सुख-दुःखादि कर्म फल को बताता है इस कारण वेद जिसके पत्ते हैं, ऐसे इस वृक्ष को जो जानता है सो वेदार्थ का जानने वाला है ॥ ५ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥६॥

अर्थ—श्री भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! हम सबके हृदय में प्रविष्ट हैं और हमारे ही से ज्ञान स्मरण और अपोहन (विस्मृति) आदि होते हैं, तथा सब वेदों करके जानने

योग्य हमी हैं, व वेदान्त शास्त्र के कर्ता तथा वेदज्ञ भी हमी हैं ॥ ६ ॥

मन्मनाभवमद्भक्तोमद्याजीमांनमस्कुरु। मामेवैष्यासियुक्त्वैवमात्मानंमत्परायणः।

अर्थ—श्रीकृष्ण जी कहते हैं, कि हे अर्जुन! हममें ही मन रख, हमारे भक्त हो, हमारा भजन (पूजन) करो, हमारा ही नमस्कार करो, हमारे ही परायण होओ, हममें इस प्रकार तन, मन धन लगाने ही से तुम हमीको प्राप्त होओगे ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे सप्तश्लोकी गीताया अद्वैतामृत वर्षिणी भाषा टीका समाप्ता।

॥ इति सप्त श्लोकी गीता सम्पूर्णम् ॥

पादाकुलकम् ।

यस्य सुमेरुपुराख्या वसतिः ।
आवसथीत्युपनाम्नो विधृतिः ॥
[illegible]यं निजबुद्ध्यंशेन ।
तेने टीका रघुवंशेन ॥ १ ॥

इति ।

ॐ तत्सत्

एकत्रिंशदुपनिषत्संग्रहः ।

इसमें—

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्ड, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कैवल्य, जाबाल, गर्भ, नारायणाथर्व, नारायण, बृहज्जाबाल, कौषीतकि, सूर्य, कृष्ण, हयग्रीव, दत्तात्रेय, रुद्राक्ष, महावाक्य, कलिसंतरण, जाबालि, ब्रह्मविन्दु, वह्वृच, मुक्तिक, हंस,

... पूजन) करो, हमारा ही नमस्कार करो, हमारे ही परायण होओ, हममें इस प्रकार तन, मन धन लगाने ही से तुम हमीको प्राप्त होओगे ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्याया योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे सप्तश्लोकी गीताया अद्वैतामृत वर्षिणी भाषा टीका समाप्ता ।

॥ इति सप्त श्लोकी गीता सम्पूर्णम ॥

...णीतानिषत्

भावा भावे पदार्थानां ऽ हर्षामर्षविकारदा

मलिना वासना थैणा सा · सकृत्कृति कथ्यते

दुःखैर्न ग्लानिमायासि हृदि हृष्यसि नो सुखे

आशावैवश्य मुत्सृज्य निदाघासङ्गताम्

सङ्गत्यागं विदुर्मोक्षं सङ्गत्यागादजन्मता

सङ्गं त्यज त्वं भावानां जीवन्मुक्तो भवानघ ॥